

राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली

लीक अलीक

सस्मरणात्मक एव व्यग्यपरक स्फुट गद्य रचनाए

भारतभूषण अग्रवाल

वातायन
बिस्सों का चौक,
बीकानेर — ३३४००१

मूल्य बारह रुपये (12 00)

प्रथम संस्करण 1980, _ बिन्दु अग्रवाल
LEEK ALEEK (Essays) by Bharat Bhooshan Agrawal

दो शब्द

मुझे प्रसन्नता है कि यह 'लीक-अलीक' संग्रह भी प्रकाशित हो रहा है। भारत जी के देहावसान के बाद यह उनकी छठी पुस्तक प्रकाश में आ रही है। इस संग्रह की रचनाओं की सूची भारत जी ने ही तैयार की थी, उसमें थोड़ा-बहुत ही परिवर्तन किया गया है। इस पुस्तक का शीर्षक भी भारत जी का ही दिया हुआ है। प्रस्तुत संग्रह की सभी रचनाएं किसी न किसी पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी हैं, क्योंकि भारत जी का स्वभाव था कि वे अक्सर एक बैठक में ही रचना लिखते थे और कभी उसी पाण्डुलिपि को और कभी उसे टाइप करवाकर तुरन्त ही किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेज देते थे।

इस संग्रह की भूमिका के लिए जब मैंने श्री विद्यानिवास मिश्र से कहा तो मुझे बेहद संकोच हो रहा था कि पता नहीं इतना विद्वान लेखक यह कार्य स्वीकार करेगा भी या नहीं। पर जिस स्नेह और आत्मीय भाव से उन्होंने यह कार्य स्वीकार किया उसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ तथा श्रद्धा से नत हूं।

मैं राजपाल एण्ड सन्ज़ के संचालक श्री विश्वनाथ जी के प्रति भी आभार प्रकट करती हूं कि उन्होंने भारत जी की पुस्तकों के प्रकाशन के सम्बन्ध में प्रारम्भ ही से रुचि ली है और उनकी पुस्तकों के प्रकाशन को अपना दायित्व माना है।

17, लेडी श्रीराम कॉलिज,
लाजपत नगर, नई दिल्ली

—बिन्दु अग्रवाल

लीक-अलीक

जिन्दु जी ने मुझसे जब कहा कि आप स्व० भारतभूषण जी की स्फुट गद्य रचनाओं के संकलन की भूमिका लिख दीजिए तो एक ओर मन में बड़े गौरव का भाव जगा और दूसरी ओर बड़ा संकोच भी होने लगा कि भारत जी मुझसे बड़े और उनकी रचनाओं पर मैं भूमिका लिखूं यह कुछ अटपटा लगता है। पर जिन्दु जी की बात मेरे लिए भारत जी की ओर से आग्रह थी और मैं उसे टाल नहीं सकता था। इसी व्याज से मैं उनकी पुण्यस्मृति से पवित्र हो सकूंगा।

स्वर्गीय भारत जी के दो रूप थे, एक था बड़ा चिन्ताकुल, अपने परिवार के लिए अपने देश और समाज के लिए और कुछ इनसे उबर जाए तो अपने लिए, दूसरा था चुहलबाज, बड़ा छोटा कोई भी व्यक्ति नहीं बचता था और घटना तो खैर कोई बच ही नहीं सकती थी। देखने में दोनों रूप एक दूसरे के विरोधी लगते हैं, पर हैं वे वास्तव में एक-दूसरे के पूरक। हास्य-व्यंग्य की तीक्ष्णता उसी व्यक्ति की कलम से निकल सकती है, जिसे कहीं गहरी सामाजिक चिन्ता हो।

'लीक-अलीक' में कई प्रकार की रचनाएं हैं। कुछ बड़े अन्तरंग संस्मरण हैं, जैसे दद्दा (स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त) के बारे में, व्यास जी के बारे में या श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के बारे में या नागर जी के बारे में। इन संस्मरणों में गहरी मानवीय आत्मीयता बड़े सहज और मर्मस्पर्शी रूप में झलकती है। कुछ ऐसे लेख हैं जो विशुद्ध शरारत से प्रेरित हैं, इन लेखों में भारत जी समसामयिकों की अदाओं के पीछे पड़ गए हैं, एकाध जगह तो

कुछ जरूरत से ज्यादा। पर इन लेखों म (जस 'गोष्ठी असमाचार', 'ऊट पर सवार साढे छह यार' म) फटसी की उडान तो है ही, बीच-बीच म गहरी चुटकी ह, यहा तक कि अपन ऊपर भी। भारत जी के हास्य की सफलता का सबस बडा कारण मुझे यही लगता है कि व स्वय अपन ऊपर हस सकते है आर खुलकर हस सकते है, किसी आत्मदया की भावना से प्रेरित होकर नही बल्कि एक जागरूक सामाजिक चेतना स प्रेरित होकर। इसी सकलन की 'बारात की ट्रेन', 'रावसाहब और रामायण पाठ', 'मैंन स्पेशल बस चलाई', मेरी नीद मेर खर्राटे' 'किस्सा नीलम की अगूठी का' शीर्षक रचनाओ म तो शुद्ध रूप स आपबीती घटनाओ का मनोरजक वणन है जिसमे कहीं कोई बनावाजी नहीं है, कहीं कोई विरूपीकरण या अतिरजन भी नहीं है, पर इनम वणन की सहजता ही स्मिति बन गई है। कुछ निबध है, जिनमें लेखकीय जीवन का अपना दद भी अपनी पूरी चुभन के साथ, अपने पूरे तैश के साथ अकित है, जैसे 'एक सलापहीन स्थिति', 'लखक और सम्मान', 'लेखक? नहीं, नहीं'। इन निबधो म भारत जी की चिन्ताकुलता ही सजीव रूप म वतमान है।

भारत जी पर मथुरा का सस्कार बडा गहरा था, इसीलिए व एक ओर तो गहरे मजाकिया थे, दूसरी ओर बहुत हृदयवान। उन्हें अपन परिवार स और अपन परिवेश से गहरा लगाव था। दिल्ली म काफी दिन रहे और वे भीतर स उदास रहते थे। परिश्रम करते थ, पर जिन कार्यों पर परिश्रम करत थ उन कार्यों को वे अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य नही मानते थे। मेरा परिचय उनस बहुत अधिक नही था, पर जितना था, उतना अहैतुक था। इसलिए कई बार उनकी आतरिक व्यथा भी मैंन झाककर देखी है। व कुछ सार्थक लिखना चाहते थे, पर जब उन्ह सचमुच इसका सुयोग मिला और जिन्दगी म एक साथ कई खुशिया आइ तो व उस सुख को नही सभाल सके आर चले गए। उनकी भीतरी चेतना के पटल अधखुले ही रह गए।

'लीक-अलीक' की रचनाए भारत जी की उस अधखुली अतश्चेतना के दशन वैस ही कराती हैं जैसे वृन्दावन म बांकेबिहारी जी की छवि का दर्शन एक एक मिनट के लिए कराया जाता है। बस एक झलक मिलती है, पूरी तौर पर देखना सम्भव नही होता। लखक बिचारा क्या करे, जिनकी

भीड़ में वह जीता रहा और इतना स्नेही होकर भी जो अपने जले लेखकीय संस्कार के कारण अकेला रहा। फक्कड़पन और अपने संघर्ष पर नाज़, चुहुलबाज़ी किए बिना रह न सकनेवाला मन (खन में सोना, खन में चांदी बननेवाला स्वभाव) एक ओर, अपने जनों के लिए (जिनमें सबसे ऊपर आते थे वे साहित्यकार जिनकी आत्मीयता ने उन्हें बांधा) स्निग्ध अपनापन और रचनाकर्म के प्रति गहरे समर्पण का भाव, दूसरी ओर, लीक अलीक की रचनाओं के ताने-बाने का काम करते हैं और बुनावट की कुशलता इसमें है कि बिना डिज़ाइन के इनमें डिज़ाइन बन गई है।

बिन्दु जी के प्रति कृतज्ञ हूं कि उन्होंने मुझे यह गौरव दिया कि स्वर्गीय भारत जी की रचनाओं की भूमिका लिखूं। जिस आस्था और धैर्य से उन्होंने उनकी रचनाओं के उद्धार का कार्य शुरू किया है, वह भारत जी की सहधर्मिणी के अनुरूप ही है।

—विद्यानिवास मिश्र

अनुक्रम

साहित्य मे मछली एक शोध

उस दिन तालाब के किनारे एक सज्जन को मछली मारते देखा तो मैं देखता का देखता रह गया। पूरे घण्टे भर तक वे दम-साधे निश्चल बैठे रहे, और मुझे भ्रम होने लगा कि वे इस शौक के बहाने प्रकृति निरीक्षण के अपने सदुद्देश्य को छिपाने का ही प्रयत्न कर रहे है।

मेरा यह साहस तो नही हुआ कि नई चाल के अनुसार उनकी इण्टरव्यू लेता, पर उस प्रश्नोत्तर के बिना भी मेरा यह अनुमान है कि मछली मारना पूरे दिन का काम है। शौक के लिए मछली मारने मे तो यह सुविधा है कि आपको जब छुट्टी हो और अवकाश मिले, तब आप तन्मय होकर यह काय कर सकते हैं। पर इससे अधिक उपयोगी काय के लिए मछली मारना कष्ट-साध्य और समय साध्य तो है ही, साहित्य-रचना के समान वह साधना का भी विषय है। यह दूसरी बात है कि इतने परिश्रम के बाद भी आपके हाथ कोई मछली न लगे। लेकिन क्या साहित्य मे ऐसा बिल्कुल नही होता।

और कुछ होता हो या न होता हो, साहित्य म मछली नही मारी जाती। कम से कम हिन्दी साहित्य के बारे मे मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हू, क्योंकि भारतेन्दु से लेकर आज तक का साहित्य हमे सुलभ है। और उससे पहले के तथाकथित हिन्दी, पर वास्तव मे व्रज-अवधी साहित्य म भी मछली मारने का उल्लेख मिलना दुलभ ही लगता है। कारण, उस साहित्य का मुख्य विषय या तो राधा-कृष्ण की लीला है या फिर रामायण की कथा।

यह ठीक है कि कृष्ण का भी अधिकाश समय वसी के साथ ही बीतता था, पर यह जानने के लिए आपको भाषा विशेषज्ञ होने की जरूरत नहीं कि वह बसी नितान्त भिन्न प्रकार की थी, और यद्यपि उसमे भी आकषण था, पर वह आकषण स्वर का था, सूत्र का नही। रही रामकथा, तो उसमे

मछली मारने के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं। जिस काल की यह कथा है उस काल में उत्तरप्रदेश के निवासी विशुद्ध निरामिष भोजी थे, और मध्य भारत के निवासी कन्द मूल फल पर निर्वाह करनेवाले मुनिजन और वानर थे। हां, लंकानिवासी राक्षस जरूर हमारी कल्पना को प्रोत्साहित करते हैं पर उनका मुख्य आहार स्वयं मुनिजन ही होने के कारण उन्हें साधना-पूर्वक मछली मारने की न तो आवश्यकता ही हुई होगी न प्रेरणा।

सचमुच, क्या यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि हमारे साहित्यकारों ने मछली की ऐसी घोर उपेक्षा की है जबकि यह मानना कठिन है कि एक भी ऐसा दिन जाता होगा जब बड़ी संख्या में मछलियां न मारी जाती हों। शाकाहारी होने के नाते हमारे साहित्यकारों ने फल-फूल और वनस्पति के वर्णन में तो अपूर्व लगन और अद्भुत कौशल का परिचय दिया है पर मछलियों को चुपचाप अपने भाग्य पर छोड़ दिया, उनकी दैनिक हत्या पर एक भी आंसू नहीं बहाया।

साहित्य से मछली के इस बहिष्कार का एक ही कारण समझ में आता है हमारे मध्ययुगीन साहित्यकारों की परलोक प्रवृत्ति। प्रभु के ध्यान में मग्न रहने के कारण, जीवन की असारता का चित्रण करने के कारण और तन मन की सारी शक्तियों को आत्म प्रतीति पर केन्द्रित कर देने के कारण ही कदाचित उनका वैष्णव मन इस ओर न जा सका। लेकिन संस्कृत कवियों को इतनी आसानी से छुट्टी नहीं दी जा सकती। मेरे एक मित्र के कथनानुसार संस्कृत का अधिकांश साहित्य लौकिक साहित्य है, उसमें धरती के जीवन की महत्ता का ही विशेष वर्णन है। फिर भी संस्कृत साहित्य में मछली मारने का वर्णन शायद ही मिले।

मछली सम्बन्धी प्राचीनतम घटना जो आसानी से याद आती है वह है मत्स्यावतार की। मत्स्यावतार की बात चलाते समय मछली मारने की सोचना बड़े ही दुस्साहस का काम है। इसलिए इसे यों ही छोड़कर हम पाण्डु पुत्र अर्जुन के मत्स्य वेध पर क्यों न विचार करें? यहां हमें बड़ा आशा बंधती है क्योंकि यहां मछली का ही नहीं मछली मारने तक का उल्लेख मिलता है। पर जिन परिस्थितियों में यह मछली मारी गई उन पर ध्यान जाते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन ने शायद यही पहली

मछली मारी होगी। कोई भी मछली मारने का शौकीन इन परिस्थितियों को सहन नहीं मान सकता। पहले तो यही बात बड़ी लज्जाजनक थी कि आजकल के भवन निर्माण उदघाटन के शिलान्यास के समान, या पराधीन भारत में लाट साहब द्वारा शिकार के शेर के समान यह मछली पहले ही मारी जा चुकी थी, अर्जुन केवल खानापूरी कर रहे थे। फिर मरा मराई मछली को ऊंचे खम्भे पर बांधकर यह काम बड़ा आसान कर दिया गया था, और यदि आंख का ही लक्ष्य न करना होता तो यह मछली कोई कवि भी मार सकता था। कहां तो साधारण मछली का शिकार जहां आप तट पर बैठकर मछली की ही उदारता और कृपा के भरोसे इंतजारी का मजा लेते रहते हैं और जहां कभी कभी मछली चुग्गा लेकर भी पकड़ाई नहीं आती, और कहां यह नाटक जिसमें मछली को मार बांधकर उसके भाग जाने की सम्भावना को पूर्णतः मिटाकर भी उसके और जल के (या शायद तेल के) बीच पूरे एक खम्भे का व्यवधान खड़ा कर दिया गया हो। इसलिए यही कहना उचित होगा कि महाभारत के इस प्रसंग में मछली नगण्य ही है और अर्जुन का ध्यान मछली पर नहीं द्रौपदी पर ही था।

मछली को आसमान में पहुंचाने का जो यह मनोरंजक कार्य महाभारत में किया गया, उसीसे प्रेरणा पाकर कदाचित प्राचीन काल के ज्योतिषियों ने मछली को सचमुच ही आसमान में पहुंचा दिया। निश्चयपूर्वक तो यह नहीं कहा जा सकता कि मछली मारने की कठिन साधना से बचने की प्रवृत्ति के कारण ही उसे यह पद दिया गया, पर मछली मारे बिना ही ज्योतिषियों ने हम सबके हाथों में जो मछलियां रख दी हैं, उससे इसी संदेह की पुष्टि होती है। और फिर जिस प्रकार मत्स्य-बद्ध रूप से उन्होंने यथार्थ मछली को बिसराकर इन मछलियों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया इसका कोई दूसरा अर्थ हो भी क्या सकता है?

लेकिन इस कार्य में भी कवि ही ज्योतिषियों से बाजी मार ले गए। कामदेव के झण्डे से लेकर आंखों और कानों तक में उन्होंने मछली के दर्शन किए भले ही केवल परोक्ष में। जीती-जागती सच्ची मछली को, या उसे मारने पकड़ने वाले मछुए को उन्होंने साहित्य क्षेत्र में प्रवेश नहीं करने दिया। महाकवि कालिदास भी शायद मछुए को भूल ही जाते, यदि शकुन्तला

ने अमोघ वानिकी की भांति उनके लिए यह असम्भव न बना दिया होता।

हो सकता है कि यहां आप कबीर के उन पदों की चर्चा करना उचित समझें जिनमें मछली को प्रमुख स्थान मिला है, पर यह बताना बाहुल्य ही है कि कबीर मछली का नाम लेकर जिसकी याद करते रहे, वह कुछ और ही था—हमारी मछली नहीं। हां, एक पल के लिए केवल एक ही पल के लिए महाकवि तुलसीदास हमारी चिर परिचित मछली की ओर इंगित करते अवश्य पाए जाते हैं। और हमारी इस गवेषणा में यह पल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा मछली के साथ-साथ साहित्य-सम्बन्धी एक गम्भीर निष्कर्ष भी हमारे हाथ लगता है। 'कवितावली' में केवट के मुख से आत्म परिचय के रूप में उन्होंने कहलाया है

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे
केवट की जात कछू वेद ना पढाइहौं।

इस उद्धरण में 'मछली से भरी पत्तल' को अपनी दीनता और साधन हीनता का प्रतीक बनाकर केवट हमें बता देता है कि उसका—मछली मारनेवाले का—जीवन वेद पाठी कवियों से कितना भिन्न, कितना दूर और कितना असहाय था। मछली मारना, और सो भी उपयोगिता के लिए, यह उस वर्ग का, उस साधारण जन का काम था जिसे तुलसी के अतिरिक्त और किसीने साहित्य में स्थान न मिल सका। तुलसी को जन कवि सिद्ध करने के लिए तो यह तक उपयोगी है ही, इसीके माध्यम से यह भी समझा जा सकता है कि 'मक्ख मारना' वाक्यांश का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ होगा। मछली मारने में जितना धैर्य जितना परिश्रम और जितना दैवयोग सम्मिलित है, उसका अध्ययन करने पर यह उचित ही लगता है कि जन साधारण के लिए ही मक्ख मारने का काम छोड दिया जाए और कवि-गण इस व्यर्थ परिश्रम से दूर रहकर वेद-पाठ या भगवद् भजन में ही लीन रहें।

जन जीवन से सपृक्त रहने के कारण लोकगीतों में और लोक साहित्य में हमें मछली मारने के सन्दर्भ प्रचुरता से मिलते हैं। अत शिष्ट साहित्य में इसका अभाव यही सिद्ध करता है कि उसमें साधारण जन के जीवन की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं की जा सकी। यह काम तभी हो सकता था जब कवि

बारात की ड्रेस

क्या कभी आपने ऐसी बारात की कल्पना की है, जिसका वर ही गायब हो ? मैं इस कल्पना की रोमांचकता से कई घण्टे अभिभूत रह चुका हूं, गनीमत यही है कि वह निरी कल्पना ही रही।

बात आज से लगभग बीस वर्ष पहले—फरवरी, 1943 की है। मैंने समाज सुधार के जोश मे अपने विवाह के सिलसिले म कन्या-पक्ष से बहुत-सी शर्त मजूर करा ली थी। उन्हींमे एक शर्त यह भी थी कि मैं जामा (विवाह के अवसर पर पहना जानेवाला परम्परागत अंगरखा) नही पहनूगा और न मौर बाधूगा, वरन् दैनंदिन जीवन की पोशाक मे ही आऊगा।

मुझे क्या मालूम था कि यह छोटी-सी बात मुझे ऐसे जौहर दिखाएगी !

मैं उन दिनो कलकत्ते मे काम करता था। बारात मेरे मूल निवास-स्थान मथुरा से आगरे जानी थी। विवाह के लगभग एक सप्ताह पहले मैं छुट्टी लेकर घर आ गया था। दो दिन बाकी प्रबन्ध मे निकल गए। तब पिताजी बोले, "और तुम्हारे पहनने के कपडे ?"

कलकत्ते मे उन दिनो युद्ध काल के कारण जीवन बडा अस्त व्यस्त और विकल था, इसलिए मैंने सोचा था कि कपडे मथुरा मे ही बनवा लूगा। विचार था कि मारवाडी ढग का बन्द गले का कोट, नावदार टोपी और धोती पहनकर शादी म जाऊगा।

पिताजी को मेरी ये शर्तें बडी ऊटपटाग लगी थी। इसलिए हो या और जो भी कारण हो, वे बोले, "मथुरा म बन्द गले का कोट सीनेवाला दर्जी कहा मिलेगा ?"

मैं चट से कह उठा, 'मैं आगरे से सिलवा लाऊंगा।'

दूसरे दिन सवेरे आगरे जाकर कपड़ा खरीदा और कोट सिलने दे दिया। पहले तो कोई दर्जी एक हफ्ते के पहले सी देने के लिए तैयार ही न हुआ, पर काफी भटकने के बाद और अपनी जरूरत खुलासा समझा देने के बाद एक दर्जी ऐसा मिला, जिसने शादी के एक दिन पहले कोट देने का वायदा किया, बोला, 'सुबह आकर ट्रायल दे जाइएगा शाम तक पक्का हो जाएगा।'

कोई और चारा न देखकर यही व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ी।

शादी के एक दिन पहले मैं फिर मथुरा से आगरा आया (दूरी 35 मील, ट्रेन से एक घण्टे का सफर, बस से दो घण्टे का), ट्रायल दिया, सारे दिन मक्खियां मारीं और लगभग तीन बजे तैयार कोट लेकर मन ही मन फूला न समाता तांगे में बैठकर स्टेशन की ओर चल पड़ा।

मथुरा लौटने के लिए मेरी गाड़ी लगभग सात बजे जाती थी। मेरा तांगा जब एक सिनेमाघर के सामने से गुजरा तो लोभ न रोक सका। दिन भर की थकान के बाद प्लेटफार्म पर मक्खियां मारने की जगह सिनेमा देख लेना ज्यादा बढ़िया लगा ('शौक केवल दो—सिनेमा और सिगरेट' तार सप्तक)। तांगा रोका, टिकट ली और पिक्चरहाल में दाखिल हो गया।

लगभग छः बजे पिक्चर का भूत उतारकर हाल से बाहर निकला, तो सन्न रह गया। कोट कहां है? मुझे काटो तो खून नहीं। सिनेमा की उतावली में मैं कोट उसी तांगे में रक्खा छोड़ चुका था, जो तीन घण्टे पहले न जाने किधर चला गया था।

लगभग पन्द्रह बीस मिनट तक तो मैं सकते की हालत में निश्चल खड़ा रहा। फिर यह सोचकर कि कोई न कोई उपाय तो करना ही होगा, मैं कुछ करने की सोचने लगा। कपड़े तो मेरे पास और भी थे, पर कन्यापक्ष की यह शर्त मैंने मान ली थी कि कपड़े जैसे भी हों, होंगे नए।

सिनेमाघर से बाहर निकलकर जो भी तांगा मुझे दिखा, उसी को रोककर मैंने अपनी कहानी सुनाई। एक बोला, 'बाबूजी, जब आप तांगे वाले को नहीं पहचानते, उसका नम्बर भी आपने नोट नहीं

किया, तो उस कैसे ढूढा जाए। फिर भी कोशिश करता हू। आइए, बैठ जाइए।'

लगभग एक घण्टे के अन्दर तांगेवाले ने मुझे पूरे शहर में घुमा दिया। फिर वह बोला, 'ऐसा कीजिए, तांगवाला के चौधरी के पास चलिए, वह कुछ न कुछ पता लगा देगा।'

काफी दूर पर एक स्लम एरिया में चौधरी रहता था, पर मरता क्या न करता!

चौधरी ने काफी हमदर्दी दिखाई और कहा, 'कल तक मुझे कोट की खबर जरूर मिल जाएगी, आप कल आकर पूछ जाए।'

मेरा दम खिसकने लगा। मैंने उसे समझाया, कल तो वही कोट पहन कर मुझे बारात लेकर फिर यहा आना है। कोट आज ही मिलना चाहिए। आगरे से मथुरा के लिए एक ट्रेन रात के दस बजे जाती थी।

उसने मुझे नौ बजे फिर आने को कहा और जब मैं वापस चौधरी के पास पहुचा तो मेरा कोट उसके पास रक्खा हुआ था।

मेरी खुशी का ठिकाना न था। चैन की सास लेकर मैं स्टेशन की ओर चल पड़ा। देर से पहुचने के कारण पिता जी डाटेंगे तो जरूर, पर वैसे सब ठीक हो गया है इसलिए चिन्ता की क्या बात है!

पर स्टेशन पर आकर जो खबर सुनी तो मेरे देवता कूच कर गए।

लड़ाई के दिन थे। उस दिन सारी लाइन पर बुकिंग बन्द थी।

मैंने हार कर सोचा, प्लेटफार्म टिकिट ले लेता हू ज्यादा से ज्यादा चार्ज देना पड़ेगा, दे दूगा।

पर उस दिन प्लेटफार्म टिकिट की बिक्री भी बन्द थी, और प्लेटफार्म पर काफी सख्या में रेलवे पुलिस तैनात थी कि कोई बिना टिकिट न चढ पाए।

ट्रेन आकर जब मेरी आखो के सामने से धड़धड़ाती चली गई तो जैसे मेरी छाती पर साप लोटने लगा। अब क्या होगा?

काफी देर उधेड़बुन करने के बाद मैं स्टेशन मास्टर के पास गया और उनसे अपनी सारी गाथा कह सुनाई।

वे बोले, रात को एक बजे एक मालगाड़ी मथुरा जाएगी। मैं उसमे

एक सवारी डिब्बा लगवा दूगा। आप उसमे जा सकते हैं।'

अधा क्या चाहे, दो आखें। सो, शादी के दिन मालगाडी के अधेरे डिब्बे मे बैठकर मैं सबेरे पाच बजे जैसे-तैसे घर पहुचा कि अपनी बारात मे शामिल हो सकू।

किस्सा नीलम की अंगूठी का

सन 1956 में जब मध्यप्रदेश का पुनर्गठन हुआ और भोपाल उसकी राजधानी बना, तब वहां आकाशवाणी केन्द्र खोलने का निश्चय किया गया। मैं उन दिनों आकाशवाणी के प्रयाग केन्द्र पर प्रोग्राम असिस्टेण्ट के रूप में काम कर रहा था। 31 अक्तूबर को मुझे लगभग एक साथ दो तार मिले : एक तार प्रयाग से भोपाल ट्रांसफर का और दूसरा तार पिताजी के स्वर्गवास का।

ये दो दुख मुझे हिलाने के लिए काफी थे, पर जब पिताजी के अंतिम संस्कार के बाद भोपाल पहुंचा तो उसमें एक दुख और जुड़ गया। आकाशवाणी केन्द्र के लिए तो मध्यप्रदेश सरकार ने एक इमारत दे दी थी, पर मेरे जैसे स्तर के कर्मचारी के आवास की कोई व्यवस्था न थी। राजधानी बनाने का निश्चय इतनी भागदौड़ में हुआ था कि इस पक्ष की ओर ध्यान न दिया जा सका था। फलतः उस समय की बस्ती में मुझे कहीं सिर छिपाने को भी जगह न मिल सकी। होटल में खाना खाता (और वह खाना कि भगवान बचाए) और 'तार सप्तक' के अन्यतम कवि मित्र और मेरे अफसर श्री गिरिजाकुमार माथुर की कृपा से एक कोने में पड़ा रहता। घर मिलने के जल्दी ही कोई आसार नजर न आते थे, इसलिए लगता था कि परिवार से यह बिछोह न जाने कितना लम्बा हो। छुट्टी मिलते ही प्रयाग भागता और मुझे देखते ही मेरी बड़ी बेटी अमिता (तब आठ वर्ष की थी) पूछती, 'पापा, घर मिला?'

उसका यह प्रश्न मेरे मन में निरंतर गूंजता रहता।

जब इसी हालत में लगभग छह महीने निकल गए तो मुझे लगा हो न हो मेरे ग्रहों में कोई खराबी है, इसीलिए ऐसे अभूतपूर्व कष्ट सहने पड़ रहे हैं। इसी झोंक में एक ज्योतिषी से सलाह ली। उन्होंने बड़ी सहानुभूति

प्रकट की और काफी गणित करने के उपरान्त सलाह दी, 'नीलम पहनिए।'

मैंने इसके पहले तक नीलम का सिर्फ नाम ही सुना था। इसलिए ज्योतिषी जी ने ही नीलम जुटाया और वैवाहिक अगूठी मे उसे फिट करा, अगुली मे पहन, मैं कुछ आश्वस्त भाव से उस बार भोपाल को रवाना हुआ।

पर भोपाल पहुचने तक मे ही यह स्पष्ट हो गया कि नीलम का यदि कुछ प्रभाव हुआ है तो वह अहितकर ही हुआ है। स्टेशन पर पहुचा तो ट्रेन छूटी जा रही थी, भागकर पकडी। फलस्वरूप लगेज बुक न करा सका। इटारसी पर लगेज चक हो गया और 9 रुपये की चपत लग गई। भोपाल के स्टेशन पर उतरते समय अपने ही ट्रक की नोक से मेरा चश्मा टूट गया।

पर मुझ पर ज्योतिषी की सहानुभूति का रग गहरा चढ गया था। मैंने तीनो घटनाओ की व्याख्या पत्नी (श्रीमती बिन्दु अग्रवाल) को पत्र लिखते समय इस प्रकार की नीलम की कृपा से लेट होने पर भी ट्रेन मिस नही हुई, लगेज के नियमो का उल्लघन करने के पाप स बचा और गनीमत हुई कि आख बच गई, चश्मे से ही बीती।

लेकिन कुछ मामलो मे नारी-बुद्धि अचूक होती है। बिन्दु जी का पत्र आया कि फौरन अगूठी उतार दो।

उधर मेरा मन इतनी जल्दी समझने को तैयार न था। क्यो उतार दू यह नीलम, आखिर यह मेरा कर ही क्या लेगा ? और फिर यह अगूठी तो मागलिक है, इसे नही उतारूगा।

और कुछ ऐसा सयोग हुआ कि मैं दफ्तर के कामो मे एकाएक बहुत व्यस्त हो गया और लगभग एक महीने तक बिन्दु जी को कोई पत्र नही लिख सका। हर तीसरे दिन उनका पत्र आता और सारी बातो के बाद आखिरी बन्द होता अगूठी उतार दी कि नही ? यहा तक कि मेरे मौन को भी उन्होंने अगूठी का ही प्रताप समझा।

एक दिन अचानक बिन्दु जी का ट्रक काल आया, 'अभी इसी समय, फोन रखने से पहले वह निगोडी अगूठी उतार दो।'

मैंने तुरन्त तो नही पर उस दिन रात को अगूठी उतारकर ट्रक मे रख दी।

कुछ महीनों बाद जब भोपाल में टी० टी० नगर बना और मुझे एक फ्लैट मिल गया तो मैं परिवार भोपाल लाया।

बिन्दु जी ने आते ही दरयाफ्त किया, 'वह अगूठी कहा है ?'

मैंने ट्रंक में निकालकर वह अगूठी उन्हें दिखाई। बोलीं, 'यह अगूठी इस घर में नहीं रहेगी, आज ही इसे बेच डालो।'

मैंने समझाने की कोशिश की, इस तरह अगूठी बेचने से काफी नुकसान होगा और फिर यह मागलिक अगूठी तो मैं न बेचूगा।

वे बोलीं 'अच्छी बात है, तो इसका नीलम निकलवाकर बेच दो।'

मैंने कहा, 'फिजूल रुपये बिगाड़ने से क्या फायदा ! जब मैं इसे पहनता ही नहीं तो यह क्या नुकसान कर सकता है ?'

पर बिन्दु जी नहीं मानीं। हारकर मैंने अगूठी घर से लाकर दफ्तर की अपनी मेज में रख दी। उनसे कह दिया कि मौका लगते ही बेचने की कोशिश करूगा।

मैं दफ्तर की अपनी मेज में कभी ताला नहीं लगाता। मैंने मन-ही-मन तय किया यदि यह अगूठी सचमुच उपद्रवी है तो कोई चुरा ले तो भी हर्ज नहीं।

एक दिन दफ्तर का जमादार मेरे सामने आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। मैंने पूछा 'क्या बात है ?'

वह बोला, 'बाबूजी, कल हमने सफाई करते वक्त देखा, आपकी ड्राज मे एक अगूठी रखी है। मुझे बड़ी फिक्र हुई कि कहीं चोरी चली जाए तो मैं मुफ्त में मारा जाऊ। आप इसे घर ले जाए बाबूजी, मैं गरीब आदमी हू।'

मैंने कहा 'अच्छा !' पर अगूठी वहीं रहने दी।

दूसरे दिन माथुर साहब के यहा पेशी हुई। बोले, वह जमादार बहुत परेशान है। तुम अगूठी घर क्यों नहीं ले जाते ?

मैंने उन्हें सारा किस्सा सुना दिया और बोला, 'अगर आपत्ति न हो, तो फिलहाल इसे आप ही रख लें।'

उन्होंने अगूठी ले ली।

उस दिन शाम को मैं जब माथुर साहब के घर गया तो वे बोले 'भई, वो राजी नहीं होतीं, तुम यह अगूठी ले जाओ।'

मैं अगूठी लेकर घर आ गया और विन्दु जी को गतिविधि बताई।

उस समय उनके पास हमारे मित्र और पडोसी शर्मा जी (प्रोफेसर वैजनाथ शर्मा) बैठे हुए थे। उन्होंने अगूठी की कहानी सुनी तो बडे जोर से हसे, ऐसे निकम्मे अन्धविश्वास को बुरा भला कहा और बीडा उठाने के ढग पर बोले, लाइए अगूठी मुझे दीजिए, मैं रखूगा।'

हमने फौरन अगूठी उनके हवाले कर दी।

सवेरे लगभग 5 बजे दरवाजे पर बडी जोर की खटखटाहट सुनाई दी। उठकर किवाड खोले तो देखा, शर्मा जी खडे है। नीद से उठकर आए लगते थे।

बोले मैं इस अगूठी से बाज आया, आप ही रखें।'

मैंने मुस्कराते हुए पूछा, बात क्या हुई ?'

बोले, रात भर अजीब अजीब सपने दीखते रहे। चन से सो भी न सका। लगता था, जैसे कोई गला दबाकर दम घोट रहा हो।

मैं क्या करता, अगूठी रख ली।

पर विन्दु जी अगूठी को किसी हालत मे घर पर रखने को तयार न थी। इसलिए दफ्तर जाते समय मैंने यह फिर जेब म डाली और उससे मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगा।

उस दिन दोपहर के समय मेरे पत्रकार मित्र राजा (श्री ध्यानसिंह तोमर) तशरीफ लाए। मैंने उनसे अपनी व्यथा कही तो वे पिघलकर अगूठी अपने साथ लेते गए।

कुछ दिनो बाद उन्होने नीलम हीन खाली अगूठी लौटाई और साथ मे बीस रुपये। बोले, 'इससे ज्यादा दामो म कोई लने को तैयार न था।'

इसीलिए यह सस्मरण लिख रहा हू, ताकि उस सौदे से जो नुकसान हुआ है वह कुछ तो पटे।

पुनश्च

वह नीलम विहीन अगूठी मेरे साथ दिल्ली तक आई थी। पर अप्रैल सन् 1961 मे घर मे अचानक चोरी हुई। चोर और कुछ तो न ले जा सका, ले जाने को था ही क्या, हा उस मानी अगूठी से मुक्ति जरूर दिला गया। मेरे घर मे होनेवाली यह एकमात्र चोरी थी।

नागर जी की वार्ता

बात तब की है जब मैं आकाशवाणी लखनऊ में वार्ता विभाग में काम करता था। उन्हीं दिनों एक त्रैमासिक वार्ता-सूची में मैंने एक वार्ता प्रस्ताव स्वीकृत कराया था — 'फिल्मी जीवन के मेरे अनुभव'। नागर जी (आदरणीय श्री अमृतलाल जी नागर) हाल ही में फिल्म-जीवन से किनारा करके लखनऊ लौटे थे और मैं चाहता था कि यह वार्ता वे प्रसारित करें। जब उन्होंने मेरा यह प्रस्ताव मान लिया तो मुझे बहुत ही खुशी हुई, क्योंकि फिल्मी जीवन के अन्तरंग परिचय के साथ-साथ नागर जी की विनोदप्रिय शैली के मेल की सम्भावना उस योजना की सफलता के लिए रामबाण थी। जब अनुबन्ध पर हस्ताक्षर हो गए तो वार्ता के विज्ञापन की भी व्यवस्था कर दी गई।

अधिकांश लेखक जानते हैं कि अपने प्रसारणों में आकाशवाणी कुछ मूलभूत नियमों का पालन करती है। वस इन नियमों की आत्मा भी वही है, जो हर शिष्ट लेखन प्रकाशन की होती है और जिनका पालन लेखक स्वतः ही करते हैं, पर प्रसारण के माध्यम की आत्मीयता के कारण इन नियमों का स्वरूप कुछ अधिक स्थूल होता है और आकाशवाणी का तन्त्र शासकीय होने के कारण उनका पालन भी कुछ कड़ाई से किया जाता है। इसीलिए साधारणतः आकाशवाणी के लेखकों से रचना का आलेख काफी पहले मंगा लिया जाता है ताकि जल्दी के कारण अथवा अनजाने में यदि लेखक ने इन नियमों के निर्वाह में कुछ चूक कर दी हो तो समय रहते लेखक से बातचीत करके आलेख में समुचित परिवर्तन कराया जा सके। लेखकों से समय पर आलेख ले लेने की पूरी जिम्मेदारी कार्यक्रम सहायकों की होती थी, इसीसे उनकी योग्यता और लोकप्रियता की जांच होती थी।

शायद ही कोई ऐसा लेखक हो, जिसने आकाशवाणी को अपना आलेख निर्धारित तिथि के पहले ही भेजा हो, निर्धारित तिथि पर भेजने वाले भी उंगलियों पर गिने जा सकते थे। अधिकांश लेखक प्रसारण के एक दो दिन पहले ही कृपा करते थे, पर इन मूलभूत नियमों से परिचित होने के कारण असमंजस अथवा संकट के काण्ड विरले ही होते थे। मैं जानता था कि विषय बड़ा रोचक और आत्मीय होने के कारण नागर जी की इस वार्ता में यह सम्भावना काफी थी कि वे उसमें फिल्मों के नाम, फिल्म कम्पनियों के नाम और फिल्म उद्योग से सम्बन्धित नामों की चर्चा करेंगे। ऐसी दशा में आलेख को सावधानी से देख लेना जरूरी था, इसलिए मैंने पन्द्रह दिन पहले से ही नागर जी को खटखटाना शुरू कर दिया।

एक हफ्ते तक तो नागर जी हंसकर कहते रहे, 'अभी से क्यों परेशान हो रहे हो, अभी तो बहुत दिन पड़े हैं।'

जब सिर्फ एक हफ्ता रह गया, तो मैंने कुछ जोर से तकाजा किया। नागर जी बोले, 'बंधु, अभी हाथ में एक और काम ले बैठा हूं। एक-दो दिन में हुआ जाता है। बस फिर तुम्हारे आलेख में जुट जाऊंगा।'

मैंने दो दिन और सब्र किया। तीसरे दिन फोन करने पर नागर जी बोले, 'बस, आज शाम तक इससे छुट्टी पाजाऊं कल तुम्हारी स्क्रिप्ट शुरू हो जाएगी।

पर नागर जी का वह काम न जाने कैसा था कि सिमटने में ही न आता था यहां तक कि प्रसारण का दिन सिर पर आ गया।

जब सिर्फ एक ही दिन बाकी रह गया तो एक मजेदार बात हुई। मेरे फोन करने के पहले ही नागर जी ने फोन करा दिया कि तुम्हारे काम में लगा हूं डिस्टर्ब न करना, शाम तक वार्ता तैयार हो जाएगी।

मुझे कुछ तसल्ली हुई। दूसरे दिन दफ्तर में पहुंचते ही मैंने नागर जी से हाल चाल पूछा। बोले, बस, हुआ जाता है। एक पन्ना और लिखना है।' दोपहर को फोन किया तो सिर्फ एक पैराग्राफ लिखना रह गया था। वार्ता साढ़े सात बजे शाम को प्रसारित होनी थी।

चार बजे मेरा धैर्य छूट गया। फोन करके कुछ कहने ही वाला था कि नागर जी का फोन आया, 'बंधु बात पूरी हो गई।

मैंने खुशी व्यक्त की और बताया कि मैं वार्ता का आलेख लेने पहुच रहा हू।

वे बोले, 'नाहक यहा तक आओगे। मैं बस कुर्ता पहनकर रानी साहिबा (रानी स्वरूपरानी बख्शी) के यहा पहुच रहा हू। आज साहित्य समाज की बैठक है पाच बजे। तुम भी वही आ जाओ। वही आलेख देख लेना और फिर वहीं से दोनों जने साथ ही रेडियो स्टेशन पहुच जाएगे।

मुझे प्रस्ताव मे कोई बुराई नही दीखी, इसलिए मैंने मजूर कर लिया।

शाम को साढे पाच बजे के लगभग जब मैं श्रीमती बख्शी के यहा पहुचा तो क्या देखता हू कि श्रद्धेय आनन्द नारायण मुल्ला, भगवतीचरण वर्मा, अली अब्बास हुसैनी आदि साहित्यकार जमा हैं और नागर जी व्यास पीठ पर डटे अपनी एक रचना सुना रहे हैं।

नागर जी ने मुझे देखते ही अपने कुरते की जेब की तरफ इशारा किया अच्छा-खासा पुलिन्दा भरा था। मैंने सन्तोष की सास ली और दत्तचित्त होकर उनकी रचना सुनने लगा।

जब घडी मे छह बजने लगे और नागर जी का पाठन समाप्त न हुआ तो मेरी धडकन तेज होने लगी।

सवा छह बजे जब नागर जी ने रचना सुनाना समाप्त किया तो मैं उनकी ओर ऐसे लपका, जैसे वे भागे जा रहे हों। मैंने उनके पास जाकर धीमे से कहा, 'आलेख दे दीजिए, मैं एक नजर देख लू।'

'बन्धु अभी चलते हैं, घबराओ मत,' कहकर अपनी रचना के सम्बन्ध मे विद्वानो की टीका टिप्पणी सुनने लगे। मेरे चेहरे पर हवाइया उड रही थी।

साढे छह बजे जब मैंने दूर से ही हाथ जोडते हुए नागर जी से प्रार्थना की तो शायद मेरे चेहरे को देखकर वे भी डोल गए। 'चलो बन्धु' कहकर वे बैठक से उठ आए।

सयोग देखिए कि हजरतगज तक कोई रिक्शा ही न मिला इसलिए काफी दूर पैदल चलना पडा। जैसे तैसे एक रिक्शा पकडकर जब रेडियो

स्टेशन पहुंचकर मैंने नागर जी को स्टूडियो मे ले जाकर बिठाया, तब ठीक सात बजे थे।

पन्द्रह दिन पहले से प्रत्येक पल जिस आलेख की मैं बाट देख रहा था, वह अब मेरे हाथ लगा। नागर जी को स्टूडियो म जमाकर मैं ड्यूटी रूम मे आकर आलेख पढने लगा। सात मिनट मे मैंने पूरा पढ डाला और आलेख पढकर मानो मेरे सामने की धरती ही घूम उठी। प्राय प्रत्येक पैराग्राफ मे फिल्म क्षेत्र से सम्बधित व्यक्तिगत और व्यावसायिक नामो और प्रसगो की झडी लगी हुई थी। मैं घबरा गया कि नागर जी जैसे अनुभवी वार्ताकार ने इस बार आकाशवाणी के नियमो को एकदम कैसे भुला डाला!

समझ मे न आया क्या करू! समय तेजी से भाग रहा था और कुछ करना जरूरी था।

ऐसे मे एक और सयोग भी आ जुडा था। स्टेशन डायरेक्टर और असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर दोनो ही उन दिनो छुट्टी पर थे। उनकी अनुपस्थिति म जो सज्जन अध्यक्ष थे, उन्ह वार्ताकारो का कोई अनुभव न था। पर और कोई चारा न देख मैंने उन्हीको फोन खटकाया।

सौभाग्य से व घर पर ही मिल गए। मैंने सक्षेप मे अपनी कठिनाई बताई तो व बोले, 'ऐसे क्या राय दे सकता हू, चपरासी के हाथ आलेख मेरे पास भेज दो।

मैंने कहा, 'सात बजकर दस मिनट हो चुके है। आलेख आपके पास भेजूगा तो वार्ता के समय तक लौटकर नही आ सकेगा।'

बोले 'तो एक काम करो, मुझे पूरा आलेख फोन पर पढकर सुना दो।'

मैंने एक बार धीमे स प्रतिवाद अवश्य किया, पर जब देखा कि वे जिद कर रहे हैं तो और समय बरबाद न कर जल्दी-जल्दी आलेख पढकर सुनाने लगा।

जब आलेख सुनाना समाप्त किया, तब प्रसारण शुरू होने मे सिर्फ पाच मिनट बाकी थे।

अध्यक्ष महोदय बोले, 'सारे नामोल्लेख निकलवा लेना जरूरी है, नही तो यह प्रसारण नही हो सकता।'

मेरा सर्वांग काप गया। सफेद फक्क चेहरे से जब मैं स्टूडियो मे लौटा तो केवल दो मिनट और थे। मैंने कहा, 'बात यह है नागर जी '

मुझे और कुछ कहने का मौका दिए बिना ही नागर जी बोले, 'बन्धु, कटेगा एक शब्द नही।

मैंने बडी आजिजी से कहा, 'पहले मेरी बात तो सुन लीजिए।'

'मैं कुछ नही सुनना चाहता।' उन्होने कहा और कोने मे खडी छडी उठाकर बोले, लो, मैं चला।' और वे स्टूडियो के दरवाजे की ओर बढ दिए।

मैंने आव देखा न ताव लपककर स्टूडियो का दरवाजा बन्द कर दिया और उसके हैण्डिल पर अपनी सारी देह टिकाकर बोला, 'आप बैठें नागर जी, और जो आलेख आपने लिखा है वह ज्यो का त्यो पढें। ज्यादा-से-ज्यादा कल मेरी नौकरी चली जाएगी ! पर मैं यह कलक अपने सिर नही लूगा कि आप जैसा प्रतिष्ठित साहित्यकार स्टूडियो से बिना ब्रॉडकास्ट किए लौट गया।

मेरे शब्दो म जैसे कोई जादू हो। नागर जी के तेवर पलक मारते ही खुल गए। वे लौटकर सीट पर आ बैठे और जेब से अपनी कलम निकालकर मुझे देते हुए बोले, 'जो बदलना हो तुम बदलते चलो मैं पढता चलूगा।' और उस दिन सचमुच नागर जी ने मेरे सारे सुधारो के साथ वह वार्ता प्रसारित की।

और उस दिन पहली बार मैंने यह देखा और जाना कि सच्चा कलाकार कितना उदार हो सकता है और कितना सहयोग कर सकता है।

आकाशवाणी मे साप

तक सगत सावधानिया जितनी भी हो सकती थी सब हमने वरती थी। हमारा ख्याल था कि हमने कही कोई छिद्र नही छोडा है। फिर भी हमारे देखते देखते वह अजीब घटना घट गई जिसे या तो चमत्कार कहा जा सकता है, या फिर सिद्धि। लेकिन मन आज तक स्वीकार नही करना चाहता कि उसम कोई हाथ की सफाई न थी।

बात सन 1955 की है, जब मैं आकाशवाणी प्रयाग पर प्रोग्राम असिस्टेण्ट के रूप मे काम करता था। गर्मियो की एक दोपहर मैं स्टूडियो के बरामदे मे खडा था, किसी आर्टिस्ट की प्रतीक्षा मे, कि सडक पर बीन बजाता जाता एक सपेरा दीख पडा।

(कथा सूत्र को आगे बढाने के पहले, जिन पाठको ने आकाशवाणी, प्रयाग के दर्शन नही किए है उनकी जानकारी के लिए उसका कुछ भूगोल बता देना जरूरी है। आकाशवाणी प्रयाग, इलाहाबाद के सिविल लाइन्स क्षेत्र म, थॉर्नहिल रोड पर स्थित है, आस पास बने दो बगलो मे। एक बगले मे कार्यालय है और दूसरे मे स्टूडियो। दोनो के बीच कोई विभाजक दीवार नही है और कर्मचारी मजे से इधर-उधर आते जाते रहते हैं। इस प्रकार दोनो बगले एक बहुत बडे अहाते मे है जिसके अगल बगल और पिछवाडे वनस्पति की भरमार है।)

पता नहीं क्या, शायद मुझे वहा खडा पाकर, वह सपेरा तपाक से भीतर आ गया। उसे देखकर आस पास काम करने वाले कुछ मित्र भी जमा हो गए। इनम विजय बास और गोपाल कौल भी थे।

सपरे ने हम उद्देश्य करत हुए कहा इस बगले मे बहुत से साप हैं बडे ही जहरीले। आप कहे तो पकड लू।

हममे से किसीने कोई विशेष रुचि न दिखाई। साप हैं तो होन दो।

हमने तो कभी देखे नहीं, न कभी कोई वारदात ही हुई, फिर नाहक क्या झंझट मोल लिया जाए !

कि तभी कोई पूछ बैठा पर तुम्हें कैसे मालूम, यहां साप हैं ?

नाथ जी हंसे। फिर बोले मेरे पास सिद्धि है। मैं चट-से मालूम कर लेता हूं।

एक बोला इसमें कौन बडी बात है ! साप तो सभी जगह होते हैं। उन्हें छेड़ने से क्या फायदा !

पर कुतूहल वश किसीने पूछ ही तो लिया पर तुम पकडोगे कैसे ?

'बीन बजाकर। नाथ जी बोले, 'मैं यहीं आपके सामने खड़ा खड़ा बीन बजाऊंगा और साप अपने आप दौड़े चले आएंगे और मैं पकड़ लूंगा।'

मुझे बचपन में पढ़ी अंग्रेजी कहानी 'द पाईड पाइपर की याद हो आई। बंसरी वाला बंसरी बजाता आगे-आगे और नगर के सारे चूहे (और बाद मे बालक) मंत्र मुग्ध से पीछे पीछे। हम सबके चेहरे पर अविश्वास झलक रहा था, पर साथ ही सबके मन में कुतूहल जाग्रत हो गया था।

'यह कैसे हो सकता है ? तुम झूठ बोल रहे हो।' कोई कह बैठा।

झूठ सच का तो आपको थोडी ही देर में पता चल जाएगा। सपेरा बोला, 'यह तो उजागर बात है। और फिर, आज कोई पहली बार तो है नहीं। यह देखिए !' कहकर उसने कागजों की एक गड्डी हमारी तरफ बढ़ा दी। मैंने देखा, वे नगर के बड़े प्रतिष्ठित सज्जनों के लिखे प्रमाण-पत्र थे कि अमुक सपेरे ने बीन बजाकर हमारे यहां साप पकड़े हैं।

हम लोग अचरज में भी थे और चौकन्ने भी। एक मित्र ने, शायद विजय बोस ने शंका प्रकट की 'अरे अपनी पिटारी के साप छोड़ देगा और फिर उन्हींको पकडकर हमें उल्लू बना देगा।'

सपेरे ने इसकी कोई जुबानी काट करने की बजाए अपनी पिटारी खोलकर दिखा दी।

पिटारी खाली थी।

अब तक भीड कुछ बढ़ गई थी। उसीमें से एक सुझाव आया क्या

पता, हमने पिटारी में साप पहले ही यहा छोड दिए हो !

सपरे के चेहरे पर कुछ झुभलाहट दिखी, 'भाइयो, एसा न कहिए। मैं तो अभी-अभी अन्दर आया हू। इन्होने मुझे भीतर आते देखा है।'

उसका इशारा मरी ओर था। बात सच थी। 'और फिर सपेरे ने जोडा, 'साप कोई ऐसा पालतू जानवर तो है नही कि जहा छोड दूगा, वही बठा रहेगा। वह तो न जाने किधर रेंग जाएगा।'

तभी विजय बोस ने धीमे-से कुछ गोपाल कौल स कहा, जो मैं साफ सुन न सका। पर उसके उत्तर मे सपरे ने एक एक कपडा झाडकर अपनी नगा झोली दी। हम सबको यकीन हो गया कि उसन अपन कपडो मे कोई साप नही छुपा रखा है।

निपट अचरज मिश्रित अविश्वास के भाव से हमने तय किया कि सपरे के दावे का कसौटी पर कसा जाए। हमने कहा 'अच्छी बात है, तुम साप पकड कर दिखाओ।'

'जो हुकुम' नाथजी बोले 'पाच रुपये लूगा।'

'अरे लेन देन पीछे होगा,' मैंन कहा, 'पहले तुम अपनी बात तो साबित करो।'

'बहुत अच्छा।'

और अपने गाल फुलाकर सपरे न बीन मे फूक भरी। मै सोचता हू, करीब पाच मिनट तक वह बीन बजाता रहा, ठीक जसे और सपेरे बजाते हैं और हम लोग आखें फाडे चारो ओर नजर दौडाते रहे कि शायद कही से कोई साप आता दीख जाए। सब सासें रोके स्तब्ध थे।

हठात्, सपरे ने बीन की लय रोककर उसमे स छोटे बड स्वर निकालने शुरू किए जैसे बालक सीटी बजाते है, और फिर एक ओर खडे पेड की ओर उगली से इशारा करते हुए बोला 'वह रहा साप !

'कहा, कहा ?' सारी भीड एक साथ बोल पडी। हममे से किसीको कोई साप नही दीख रहा था।

'अरे यह लीजिए !' कहता हुआ सपेरा पेड तक गया और जैस फूल तोडने के लिए हाथ बढाते हैं ऐस हाथ बढाकर एक साप उतार लाया। वह किसी डाली से लिपटा हुआ था।

'तुमने तो कहा था, साप दौडता हुआ आएगा ?' किसीने पूछा।

'दौडता हुआ तो आया ही है, और नही तो क्या साप इस पेड पर ही बैठा था ?' सपेरे ने कहा।

'यह नही मानी। यह तो तुमने अदर आते हुए किसी चालाकी से यहा रख दिया होगा। एक और सज्जन बोले।

आप चालाकी कहते है इसे ? तो यह लीजिए।' कहकर उसने फिर बीन म फूक भरी और स्वर साधा। पहले की ही तरह थोडी लय छेडने के बाद उसने छोटे-बडे स्वर निकाले, और बोला 'आइए यह रहा साप।'

आगे आगे वह और मत्र मुग्ध से पीछे पीछे हम सब बगले के पिछवाडे की ओर चले। बगल के लेडीज बाथरूम' के दरवाजे पर रुककर वह बोला 'जाइए अदर साप है। ले आइए।'

पर किसकी हिम्मत थी भला जो अन्दर जाता !

फिर वह सपेरा ही अन्दर गया और एक साप लटकाए बाहर आया। यह बिल्कुल दूसरी तरह का था।

पेड तो बगले के सामने की ओर था, हो सकता है, वहा सपेरे ने किसी चालाकी से साप रख दिया हो, पर लेडीज बाथरूम तक वह किसी हालत म नही गया था, यह बिल्कुल तय है। हम लोग सब दग थे। पर विश्वास न होता था। कोई तर्क नही था, फिर भी हम यही कह रहे थे, हो न हो इसम कोई चालाकी है।

'चालाकी !' सपेरे को कुछ तश आया। यह देखिए।' उसने नये पकडे साप की गरदन दबाकर उसका मुह खुलवाया और बोला 'यह देखिए, इसके दात अभी तक मौजूद हैं। हम लोग तो दात तोड देते हैं।' और फिर एक कपडा उसके मुह मे देकर उसकी गरदन छोड दी, फिर कपडा खीचकर प्रमाणित किया कि दात अभी हैं।

सब कुछ हमारी आखो के सामने हो हुआ था चालाकी का कोई प्रमाण हमारे पास नही था, पर हम मानते भी कब। हम यही कहते रहे। जो हो ये साप हैं तुम्हारे ही।

और तब सपेरे ने ताव खाकर एक चुनौती पेश की। 'अगर आपने

कभी इस बगले मे कोई साप देखा हो, तो मुझे उसका अता पता बताइए, मैं उसीको पकडकर दिखा दूगा।'

यह सुनते ही एक चपरासी बोला 'पीछे, गैरेज के पास एक साप रहता है, बहुत बूढा। बरसात मे निकलता है। उसके डर के मारे हम उधर नही जाते।

चलिए, फिर उसीको पकडकर दिखाता हू।'

धुर पिछवाडे बने गैरेज के पास जाकर हम सब रुक गए। सपेरा दो डग आगे बढा और बीन बजाने लगा। गैरेज बद था और उसमे ताला लटक रहा था।

वादन प्रक्रिया समाप्त करके सपेरा बोला 'ताला खोलिए, साप इसके अदर है।'

कई जने एक साथ चाभी लेने दौडे, कार्यालय वाले बगले म। थोडी देर म ताली भी आई और खबर सुनकर और भी कुछ लोग आए। उनमे आकाशवाणी प्रयाग के तत्कालीन सचालक श्री गोपालदास और विश्व-विख्यात कवि श्री सुमित्रानदन पत भी थे।

ताला खोला गया। भीड सासें रोके खडी थी। ज्योही टीन का फाटक खुला, त्योही सपेरा झपटता हुआ अदर गया और पल भर बाद ही एक लम्बा मोटा साप लिए बाहर निकला।

हम लोग दग रह गए।

वह चपरासी बोला हा, यही साप है। हमने इसे बहुत बार देखा है।'

अब विश्वास करने के अलावा कोई चारा न था। हालाकि, मामूली तौर पर बजाई गई उस बीन का और साप का क्या सम्बध हो सकता था यह न तब समझ मे आया न आज। पर विश्वास हो गया था, इसका एक प्रमाण मेरे पास है।

सपेरे ने पाच रुपये फीस ठहराई थी। अब देने की बारी आई तो हम लोग चदा उगाहने लगे। दो-तीन रुपये इकट्ठे हो चुके थे कि बहल साहब (आनद स्वरूप बहल, नाटक कार्यक्रम के सहायक) बोल पडे, 'मैं तो कई दिन से एक सपेरे की तलाश म था। मुझे एक नाटक के लिए बीन

ध्वनि प्रभाव की जरूरत है। इसे रेकार्ड कर लेते हैं।' रेकार्डिंग की फीस दस रुपया देना तय हुआ।

लगभग एक घण्टे के बाद जब बीन का रेकार्ड तैयार हो गया और गोपालदास जी अपने कमरे में लाउड स्पीकर पर उसे फिर से सुन रहे थे तो हममें से कोई बोल उठा 'स्पीकर बंद कर दीजिए। कहीं यहां भी सांप न निकल आए।'

तो क्या सांप बीन सुनते हैं? क्या सचमुच सांपों को इस तरह पकड़ा जा सकता है? क्या वह सपेरा सिद्ध था या कुशल बाजीगर? आज भी यह रहस्य बना हुआ है!

है। और यह भी लगा कि जिसे मैं उपलब्धि कहता हूं वह भी इसीलिए हाथ नहीं लगी कि मेरा सारा कर्म सारा सचेत जीवन उस सूत्र के निषेध पर टिका रहा।

यह भाव उठने पर मन की ललक विकलता बन गई।

यही कारण था कि जब एक दिन बातों ही बातों में श्री बलवन्त गार्गी (पंजाबी के प्रख्यात लेखक जो रंगमंच के अध्ययन के सिलसिले में विश्व भर का भ्रमण कर चुके हैं, और जिन्हें पंजाबी पुस्तक 'रंगमंच' पर पिछले साल साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिल चुका है) रास-लीला देखने की इच्छा प्रकट करने लगे तो मैंने उनका प्रस्ताव लपक लिया और बिना कुछ ज्यादा सोच विचार के ऐन जन्माष्टमी के दिन सबेरे फ्रंटियर मेल पर चढ़कर हम मथुरा जा धमके।

गाड़ी से उतरकर पहला सवाल उठा जाएं कहां ? मैंने रिटायरिंग रूम का प्रस्ताव किया, ताकि सोचने का समय मिल जाए। मेरा अपना घर है मथुरा में पर वहां अचानक जा धमकना अच्छा नहीं लग रहा था।

थोड़ी देर बाद हल्के होकर मैंने अपने मित्र श्री रमनलाल अग्रवाल एडवोकेट को फोन किया। वे घर पर नहीं थे, जन्म भूमि (भगवान श्री कृष्ण की मान्य जन्मस्थली, जहां अब कई मन्दिर बन गए हैं) गए थे, जन्मोत्सव में। हमने सोचा, स्टेशन की बजाय उन्हीं के घर पर बैठकर इन्तज़ार किया जाए। चल पड़े।

एक घण्टे बाद उनके दर्शन हुए तो मिनटों में ही वे गार्गी से घुल मिल गए। गार्गी की जिज्ञासा का अन्त न था। वे एक नई निकोर मोटी-लम्बी नोटबुक ले गए थे धड़ाधड़ नोट्स लेने लगे—कभी उर्दू में, कभी अंग्रेजी में कभी पंजाबी में। देवनागरी भी चल रही थी। रमनलाल ने रासलीला का अध्ययन ही नहीं किया है, उसपर एक अच्छी-खासी पुस्तक भी लिखी है। वे लगातार बोले जा रहे थे।

वे बोल रहे थे, गार्गी सुन लिख रहे थे, मैं भीग रहा था। मन पर चढ़ी अट्ठाईस वर्षों की गर्द की परतें एक एक कर वही जा रही थीं और अन्तर में फिर से वह कच्ची रसमयी भूमि निखरी आ रही थी जिस पर पड़े कूड़े-करकट के कारण मैंने कभी कोई बीज नहीं बोया था।

वृंदावन की भीगती शाम

तीसरे पहर भोजन से छुट्टी पाकर हम लोग वृंदावन चल पड़े रामलीला देखने। वृंदावन में हमेशा जगह-जगह रास होता रहता है, कहीं कहीं नित्य रास भी। तिस पर तो आज जन्माष्टमी थी। रास्ते भर बादल हमारी छाया करते रहे। सड़क के दोनों ओर घने जंगल छाये थे और रामलाल बड़ी तन्मयता से गार्गी को वृंदावन का पूरा इतिहास बताते जा रहे थे। तांगे में नोटस लेना सम्भव न था, नहीं तो वे उससे भी न चूकते।

वृंदावन पहुंचते ही हम एक रास मण्डली में पहुंच गए। लीला शुरू हो चुकी थी। स्वरूप (पात्र) गा रहे थे। गार्गी ने नोटबुक खोली तो महाराज (आचार्य) ने कान में आकर कहा—'बोल लिखना मना है।' मैंने चट-से कहा 'सिर्फ वर्णन लिख रहे हैं।' गार्गी ने लिखना छोड़ स्वरूपों के रेखा चित्र बनाने शुरू किए।

बचपन की बहुत-सी बातें भूल गया हूं पर एक याद है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मथुरा में जन्माष्टमी के दिन पानी न बरसा हो।

हम वहां से उठकर दूसरे मंदिर में जाने ही लगे थे कि पानी आ गया। धीरे धीरे उसका ज़ोर बढ़ता ही गया। मैंने कहा 'यह मत सोचिए, बन्द हो जाएगा। रात भर बरसेगा।' इसलिए, तय हुआ कि लौटा जाए।

पानी में तांगा क्या काम देता। हम लोग भक्तों की भारी भीड़ में किसी तरह रोडवेज़ की बस का टिकट प्राप्त कर रात दस बजे के लगभग मथुरा पहुंचे और रिक्शे में भीगते भागते घर।

बाहर वर्षा की झड़ी और भीतर नोट-बुक पर झुके गार्गी। उन्होंने फिर प्रश्नों की झड़ी लगा दी। और तभी न जाने कब अनायास ही ब्रज-लीला-केन्द्र की रूप रेखा तैयार हो गई।

ब्रज लीला-केन्द्र

ब्रज की कला और संस्कृति के अध्ययन-अनुशीलन के लिए यद्यपि संस्थाएं मौजूद हैं, पर वे संस्थाओं के सामान्य नियम या अनुशासन के प्रचार विग्रह में फंसकर अपने मूल उद्देश्य से विरत हो चुकी हैं।

तय किया एक ऐसी संस्था का गठन हो जो चुनाव और सदस्यता के झंझटों से मुक्त हो, जो ब्रज की रास-लीला का अध्ययन कर, उनको लिपि-बद्ध और टेप बद्ध करे और—और कुछ न करे। इतना सीमित काम इसीलिए तय किया गया कि संभव हो जाए। दूसरे दिन सवेरे जब हम दिल्ली लौटे तो रामनलाल केन्द्र के गठन का भार ले चुके थे।

उद्घाटन या छाया चित्रण ?

बारह अक्टूबर को ब्रज लीला-केन्द्र का उद्घाटन निश्चित हुआ। बलवन्त गार्गी ने उद्घाटन करना स्वीकार किया। मैं योजना के अनुसार उनके साथ ही था। सवेरे ही मैं सपरिवार और गार्गी मथुरा जा पहुंचे। रामनलाल ने बताया, कोई खास धूम धाम नहीं रखी है बस नगर के कुछ बीस पच्चीस प्रमुख विद्वान होंगे, और संस्था चल पड़ेगी।

पर गार्गी की रुचि संस्था में नहीं, रासलीला में थी। प्रबंध था कि उद्घाटन के बाद रात को रास-लीला होगी और फिर एक लीला दूसरे दिन रात को। पिछली यात्रा में गार्गी तस्वीरें न ले सके थे। वे इस बार पूरी तरह से लैस थे।

समारोह के कुछ ही पहले तक हमारे आनन्द विस्मय का ठिकाना न रहा जब आगरे से डा० सत्येन्द्र आ गए। उनके साथ उदयशंकर शास्त्री भी थे। रामनलाल ने कहा तो था कि उन्हें भी सूचना दी है पर मुझे उनके आने की सम्भावना कम ही लगती थी। अचानक पूज्य गुरुदेव के दर्शन कर मैं भर उठा।

मथुरा तीन लोक से न्यारी

तभी आए डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी। उन्होंने बताया कि मथुरा में हमारी उपस्थिति का लाभ उठाकर उन्होंने नाट्य दिवस मनाने का भी निश्चय किया है। और तब मथुरा तीन लोक से न्यारी' कहावत को चरितार्थ करते हुए एक ही स्थान काल जन में एक साथ दो समारोह सम्पन्न हुए।

जब समय की सुई टिक गई

भाषणों में न गार्गी की कोई रुचि थी न मेरी। उन्होंने बड़ा संक्षिप्त सा उद्घाटन भाषण दिया, और उतना ही संक्षिप्त भाषण मेरा था।

डा० सत्येन्द्र ने ब्रज लीला केन्द्र की स्थापना पर हर्ष प्रकट करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश दिए। उदयशंकर शास्त्री ने बड़े मार्के की बात कही कि रामलीला के परम्परागत रूप में जिन आधुनिकताओं का समावेश हो चुका है उन पर नाक भौं चढ़ाने की बजाय उनका भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

और तब परदा उठा। आज की रास लीला भ्रमर गीत की कथा पर थी। लगभग आठ बजे शुरू होकर लीला रात के डेढ़ बजे तक चली। बाद में बताया गया कि पूरी लीला और भी बड़ी है, पर साधारणतः वे संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। हमारी रास मण्डली मथुरा की सर्वोत्कृष्ट मण्डलियों में मानी जाती है, और इसमें आश्चर्य भी क्या, क्योंकि पूरे पांच घण्टे हम लोग दम साधे मंत्र मुग्ध बैठे रहे। गार्गी चित्र लेना भी भूल गए, जिसकी कमी उन्होंने लीला के बाद पूरी की। मैं देखता था और दंग होकर सोचता था कि यह कितना सफल लोक-माध्यम है जो संस्कृत और ब्रज के श्रेष्ठतम काव्य को (जिसे पढ़ना विद्यार्थी भी कठिन मानते हैं) इतना सुगम और सरस रूप दे देता है। कृष्ण की विकलता और उद्धव की पराजय इतनी मार्मिक बन गई थी कि हमें समय की गति का भी भान न रहा।

जगमगाती शाम के चित्र

दूसरे दिन सवेरे ही गार्गी तय कर चुके थे कि आज वे रासलीला का आनन्द छोड़कर चित्र लेने का अपना काम पूरा करेंगे। दोपहर को दिल्ली से श्रीमती पोटापको (रूसी महिला, जो भारतीय रंगमंच का अध्ययन कर रही हैं) साथ में फिल्म कमरा लिए आ गई थीं। सांझ और लीला, जो लगभग तीन घण्टे चली, कमरे के प्रकाश में जगमगाती रही। लगभग एक सौ चित्र लिए गए, और बहुत-से रंगीन। गार्गी का जैसे मन ही न भरता था। वे मंच के इधर उधर कोणों पर कोण खोजते फिर रहे थे।

अगले दिन जब हम लौटे तो मेरा मन एक अजीब तृप्ति से भरा था—एक पुनर्परिचय की तृप्ति। जल्दी के कारण मैं बहुत घूम फिर न सका था, पर मेरे मन प्राण में यमुना की लहरें हिलोर ले रही थीं।

व्यास माने मथुरा

कहावत है काला अक्षर भैंस बराबर। पर जहां तक व्यास जी का सम्बन्ध है, उन्हें भैंस काले अक्षर के बराबर नहीं सोने के अक्षर के बराबर सिद्ध हुई है। आज व्यास जी का नाम सबसे अधिक हास्य रचना के क्षेत्र में ही लिया जाता है और व्यास जी को अपनी हास्य रचना की प्रेरणा एक भैंस ने ही दी थी। पर इसमें मैं भैंस को कोई विशेष श्रेय नहीं दे सकता। यह व्यास जी की ही प्रतिभा थी जो उन्होंने भैंस से भी कविता प्राप्त कर ली—औरों को तो उससे सिर्फ दूध ही मिला।

इस कविता की पहली पंक्ति है वह बाबू जी की टवल भैंस (कविता मुक्त छन्द में थी और यह शोध का महत्त्वपूर्ण विषय है कि मुक्त छन्द से प्रारम्भ करने पर भी व्यास जी बाद में पुरानी चाल की कविता क्यों लिखने लग गए, जरा और जोर मारते तो किसी न किसी सप्तक में समा ही सकते थे)। यह भैंस बाबूजी की थी—यानी स्वर्गीय श्रद्धेय बाबू गुलाबराय की। महेन्द्रजी ने तो व्यासजी को 'साहित्य सन्देश' की सम्पादकी दी थी (जो उन्होंने कुछ ही समय बाद त्याग दी) पर बाबूजी की भैंस ने उन्हें कविता दी थी (जो उन्होंने आज तक नहीं छोड़ी), पर इसको भी मैं व्यासजी की प्रतिभा ही मानता हूं भैंस का प्रताप नहीं।

ये दोनों घटनाएं आगरा की हैं जिसमें व्यासजी का लगाव बाद में हुआ वय प्राप्त करने पर। व्यासजी की जन्मभूमि तो पवित्र मथुरा धाम है जहां भगवान कृष्ण से लेकर डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी तक न जाने कितने अनोखे व्यक्तित्वों ने जन्म पाया है। फिर व्यासजी ही अनोखे होने से कैसे बच पाते? उनके अनोखेपन पर उन्हीं को आश्चर्य हो सकता है जो मथुरा के प्रभाव प्रताप से अपरिचित हो। मैं उनमें नहीं हूं। मैंने स्वयं मथुरा में ही जन्म पाया है। यह और बात है कि होश संभालने के बाद मैं घटना चक्र में उलझकर मथुरा से ज्यों ज्यों दूर होता गया, त्यों-त्यों

व्यासजी मथुरा के निकट होते गए, यहां तक कि उन्होंने मथुरा में कई मकान बनवा लिए और ब्रज-साहित्य मण्डल के प्रधान मंत्री बन बैठे। मैंने तो उनसे कई बार कहा है कि एक ही नगर में दो प्रधानमंत्री नहीं रहने चाहिए। पर वे राजधानी छोड़ने को तैयार ही नहीं होते। उनके मत में मथुरा की यात्रा करने का जो माहात्म्य है वह मथुरा निवास का नहीं है। इस बात में कुछ तत्व भी विदित होता है क्योंकि उद्धव भी मथुरा से ऊब गए थे।

इस प्रसंग से एक और बात याद आ गई। अक्सर मित्र पूछा करते हैं कि आगरा के उन साथ बिताए दिनों के बाद मैं अचानक कलकत्ता क्या चला गया, व्यासजी की तरह सीधे दिल्ली क्यों न आ धमका। इस प्रश्न पर मैं अब तक चुप ही रहता आया हूं। पर लगता है अब व्यासजी की पचमी-पूर्ति पर यह रहस्य खोला जा सकता है। आगरा के प्रवास काल में ही कभी व्यासजी ने स्पष्ट होकर मुझे यह आगाह कर दिया था कि मैं उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप (या पदक्षेप) न करूं। उन्होंने कहा था एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते। इसी आदेश के कारण, जब व्यासजी ने अपने लिए दिल्ली का जू चुना तो मैं कलकत्ते के सुंदरवन की ओर चल पड़ा। यही नहीं, क्योंकि व्यासजी की कवि-सम्मेलनों में कीर्ति-पताका लहराती थी, इसलिए मैंने कवि सम्मेलनों से ही किनारा कर लिया—बल्कि ऐसी कविता से ही किनारा कर लिया जो कवि-सम्मेलनों में चलती है। और क्योंकि वे हास्य की रचनाएं करते थे इसलिए मैं व्यंग्य की रचनाएं करने लगा। यह नीति बड़ी सफल रही और इसमें हम दोनों का ही लाभ हुआ। आज तक कोई ऐसा प्रसंग नहीं आया जब हम दोनों में टकराहट हुई हो। हां, आज से चार-पांच साल पहले एक बार सीहोर (मध्य प्रदेश) में यह आशंका प्रबल हो उठी थी जब एक कवि सम्मेलन के आयोजकों ने मुझसे सलाह किए बिना ही हम दोनों को एक ही मंच पर ला बिठाया। पर मुझे तुरंत युक्ति सूझ गई और मैंने चट से भाई गिरिजाकुमार माथुर को आगे कर दिया। व्यासजी को समझने में कुछ समय लगा, और तब तक वे माथुर साहब की ओर इशारा कर-करके 'मेरे प्यारे सुकुमार गधे' वाला अपना मास्टरपीस सुना चुके थे।

इस विवरण से पाठक सहज ही समझ लेंगे कि अत्यन्त अभिन्न और अंतरंग मित्र होते हुए भी आगरा-जीवन के बाद मैं व्यासजी से दूर ही दूर रहा हूं। भगवान की इच्छा से जब मुझे दिल्ली आना पड़ा तब मन में एक झिझक और भय अवश्य था कि व्यासजी बुरा मान जाएंगे। पर यहां आकर पता लगा कि व्यासजी तो पुरानी दिल्ली में रहते हैं और मैं नई दिल्ली में—और उनमें उतना ही असम्पर्क है जितना पुरानी और नई कविता में। सो, मन में एक प्रकार की निश्चिन्तता हुई। बाद में जब व्यासजी ने मुझे लाल किले के कवि सम्मेलन में बुलाया, मेरी पत्नी को हिन्दुस्तान में एक कालम लिखने को दिया और मेरी कविताएं भी छापीं तो मुझे बड़ा अचरज हुआ। पर धीरे धीरे समझ में आ गया कि अब हम दोनों ही बूढ़े हो गए हैं, दोनों ही नख-दन्त-हीन दुर्बल हैं और समान रूप से किसी सर्कस के कटघरे में बन्द हैं।

तो दिल्ली की बात तो यह है। रही आगरा की। तो उन दिनों एक ऐसी विचित्र घटना घटी कि वही याद रह गई है और सब भूल गई है। मैंने 'साहित्य सन्देश' के लिए कोई लेख लिखा था जो व्यासजी ने लौटा दिया। स्थानाभाव के कारण लौटाते तो कोई बात नहीं थी, उन्होंने बड़े भाई के ढंग पर लेख लौटा दिया था। मुझे ताव आ गया और मैंने कुछ अकथ्य कह डाला। व्यासजी ने मुझे ठोकने की धमकी दी, मुझे मूर्ख कहा और वह मेरा वाला वाक्य कहा जो मैं अभी आपको बता चुका हूं। मैंने तो खैर फिर कुछ नहीं कहा, पर भाई नेमिचन्द्र जी ने इस घटना को एक मुक्त छन्द में बांधा था जो कुछ इस प्रकार था—

मूर्ख कहने का अर्थ होता अपमान नहीं
ठोकने की धमकी में हिंसा का भान नहीं
कोषकार देख लें
शास्त्रकार देख लें
मूर्ख बड़ा भारत है
धन्य हैं व्यास जी
उचित है व्यास जी
न्याय्य हैं व्यास जी!

तो अब मथुरा ही रह जाती है। इसीलिए मेरे मन में व्यासजी का अर्थ ही मथुरा है। जब मथुरा की याद सताती है तो उनसे मिल लेता हूं और जमना तट-सी उनकी वाणी का आनन्द उठाता हूं। क्योंकि मथुरा के जीवन में व्यासजी ने जो प्रतिभा दिखाई, वह दिल्ली के परिचितों से भी अज्ञात है। व्यासजी को सारी रामायण कण्ठस्थ है क्योंकि रामलीला में वे सीता के स्वरूप से आरम्भ कर क्रमशः लक्ष्मण, राम और हनुमान तक का स्वरूप भर चुके हैं और समस्त मथुरा नारी को अपने चरणों पर झुका चुके हैं। ब्रज साहित्य मण्डल और दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संगठन में उन्होंने जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है, उसकी भराव वे सातवें दर्जे में ही बाल नवयुवक क्लब की स्थापना करके दिखा चुके थे जिसकी ओर से हमने डण्डेशाही निकालकर यह गीत गाया था—'सन सत्ताइस में शुरू हुई यह बी० एन० क्लिब हमारी।' —जिसमें नवयुवक एकमात्र व्यासजी ही थे और बाल मैं था—और जिसके पुस्तकालय में मेरी सारी पुस्तकें उन्होंने दान में ले ली थीं। व्यासजी मुझसे बड़े हैं, शुरू में वे मेरे सहपाठी नहीं थे, मुझसे आगे थे—सिर्फ दर्जा सात में ही वे मेरे साथ आए—और फिर मुझे आगे धकेलकर स्वयं उस लाइन से ही उतर गए। यही कारण है कि जब व्यासजी ने प्रथम श्रेणी में साहित्य रत्न पास किया तो मैं उनकी प्रतिभा का लोहा मान गया क्योंकि मैंने उन्हें पढ़ते कभी नहीं देखा। अपने ग्रंथ प्रकाशित करके भी उन्होंने ऐसी ही विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है क्योंकि मैंने उन्हें लिखते भी कभी नहीं पाया। सम्पादन की कला में तो उन्होंने ऐसे-ऐसे नव पथों का निर्माण किया है कि क्या कहूं—साक्षात नारद को वे राजनीति में उतार लाए हैं। ब्रजभाषा में जितने कवित्त सवैये उन्हें याद हैं उतने अभी प्रकाशित भी नहीं हुए। ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न, अग्रज और मित्र मथुरावासी को आज यों सम्मानित होते देखकर मैं फूला नहीं समाता हूं। पर मेरे पास तो भेंट में देने के लिए यही एक कागज का फूल है—

कोई अब सुनता नहीं है राम की कथा
बढती चली ही गई व्यास की मनोव्यथा
पहले रह मेम म
फिर गए प्रेस म
वहां हुई हडताल, उनका पता न था।

खबरदार, निमत्रण-पत्र भेज दूगा !

आई/22, जगपुरा एक्स्टेंशन,
नई दिल्ली 14
29-6-63

प्रिय बरसे,

इस बार जब कनाट प्लेस मे तुमसे भेंट हुई तो बडा आनन्द रहा। बस, एक ही बात खटकी कि तुम रेडियो ब्राडकास्ट के लिए जाने की जल्दी मे थे, और मैं अपने अंतिम वाक्य का मम न समझा सका। यो, तुम सिर्फ हास्यरस के डाक्टर ही नही हो, सचमुच मे हास्यरस के सफल लेखक भी हो, और इसलिए मेरे उस अंतिम वाक्य का रहस्य जाने बिना भी हस पडे थे, जसा कि एक मित्र को दूसरे मित्र के विनोद पर करना ही चाहिए। क्योंकि बात लम्बी थी और व्याख्या के लिए तुम्हारे पास समय न था, इसलिए उस समय मैं भी तुम्हारे प्रति हास्य से कृतज्ञ होकर ही रह गया। पर हो सकता है, बाद मे तुमने यह सोचा हो कि मैं हास्य वचन कहने मे कमजोर हू और तुम्हे विवश होकर ऐसी बातो पर भी शिष्टाचार निभाने के नाते हसना पडता है जिनमे हसी का कोई पुट नही होता—इसलिए यह गलत धारणा दूर करने के लिए एक पत्र आवश्यक हो गया है। इसीलिए लिख रहा हू।

बात कुछ दिनो पहले की है। एक दिन बडे सबेरे एक ट्रक काल ने मुझे जगाया। भुनभुनाते हुए उठकर ज्योही मैंने 'हैलो' किया, त्योही मालूम पडा कि मथुरा से कोई बालसखा बोल रहे है (उनका नाम जानबूझकर छुपा रहा हू, नही तो तुम जाकर उनसे जड दोगे)। बचपन मे हम दोनो साथ-साथ अन्ताक्षरी प्रतियोगिता मे भाग लेते थे। पर अब वे व्यापार की प्रतियोगिता मे काफी आगे निकल चुके है, और मैं काव्य की प्रति-

योगिता म एमा पिछना हू कि आज तक किसी प्रकाशक न मेरा काव्य-संग्रह नहीं छापा, सब खुद ही छपाने पडे हैं (सन्ताप केवल यह है कि जो कविता-सग्रह प्रकाशकों द्वारा छप हैं उनम स बहुतर—एसा सुना है—वास्तव म कवियों क ही छाप हुए हैं —और थोड-बहुत घूम म भी छप हैं। तुम पूछोगे घूम म क्स ? पर मित्र, इसकी व्याख्या करूगा तो यह पत्र भूमिका-बहुल हो जाएगा अत इस वाक्य की व्याख्या फिर कभी करूगा)। तो उन बाल-बधु न बताया कि उनकी सुपुत्री का विवाह होन वाला ह और मुझे उसम सपरिवार सम्मिलित होकर उनपर अनुकम्पा करनी है। मथुरा की यात्रा मरे लिए एक पथ दो काज ही नहीं, एक पथ छ काज होनी है अत मैंन सहष स्वीकार कर लिया।

दूसर दिन उसी अभाग क्षण पर फिर उनका फोन आया। बोले 'निमन्त्रण मिला ?' मैंन कहा हा कल ही तो तुमन निमन्त्रण दिया था, क्या भूल गए ? वे बोले, अरे, सो तो ठीक है, वह तो तुम आ ही रह हो। मैं तो निमन्त्रण-पत्रिका की पूछ रहा हू। घर आती होगी।' कहकर उन्होंने फोन बन्द कर दिया।

तीसर दिन फिर घण्टी टनटनाई। मैं प्रत्यूष की नीद का मजा ले रहा था। सोचा टाल जाऊ। पर जब श्रीमतीजी ने आकर बताया कि मथुरा से फोन है और वे मुझीम बात करना चाहते हैं, तब उठना ही पडा।

छूटत ही बालसखा बोले पत्रिका मिली ? मैंन कुछ खीझते ही कहा अरे यार, गोली मारो पत्रिका को। कहीं डाक मे इधर उधर हो गई होगी। हम लोग तो आ ही रह है, फिर चिन्ता किस बात की ?

पर मित्र को सन्तोष नहीं हुआ। कहन लगे 'यह तुमन एक ही कही। वह पत्रिका डाक मे खोनेवाली नहीं है। पहुचेगी जरूर। देखकर बताना कसी लगी।' मैंने झल्लाहट मे हा हू करके बात खत्म कर दी।

दोपहर को दफ्तर म पोस्टमैन आया, एक इण्टीमेशन (सूचना-पत्र) लेकर। कहने लगा 'आपकी एक पासल आई हुई है, किसीको भेजकर मगवा लीजिए।' मैं पहले तो सोचता रहा कि न मालूम क्या चीज है, किसने भेजी ह, फिर ख्याल आया कि पिछली बार कलकत्ते मे बाबा के घर कुछ किताबें भूल आया था शायद वे ही होगी। उन्होंने लिखा भी

था कि पासल से भेज रहे हैं। मैंने इंटीमेशन पर दस्तखत करके अपने चपरासी को भेजा कि पासल ले आए।

करीब एक घण्टे बाद चपरासी का फोन आया, 'साहब, एक चपरासी और भेज दीजिए, मुझ अकेले से नहीं उठेगी।'

मैं ताज्जुब में पड़ा ऐसी भी क्या पासल। पर फोन पर जिरह करना ठीक न था, कहा 'यहां और कोई चपरासी नहीं है, तुम कोई टैक्सी कर लो, और उसे घर छोड़ आओ।'

जवाब में चपरासी की बेसाख्ता हंसी सुनकर मुझे बड़ा ताव आया, पर मैं कुछ बोलूं इसके पहले ही उसने यह कहते हुए फोन बन्द कर दिया कि 'अच्छी बात है, मैं कोई इन्तजाम कर लूंगा।'

शाम को घर पहुंचा तो देखा कि घर के बाहर लान में इतनी भीड़ जमा है मानो मुहल्ले भर के स्त्री-पुरुष और बच्चे वहां इकट्ठे हो गए हों। मैं घबराया कि माजरा क्या है। लपककर भीड़ को चीरता जब मैं अन्दर दाखिल हुआ तो उस अद्भुत दृश्य को देखकर सन्न रह गया।

लॉन में बगल की दीवार के सहारे एक महाकाय साइन-बोर्ड रखा था, जैसे बड़े-बड़े रास्तों पर बड़ी-बड़ी कम्पनियां लगाती हैं। साइन-बोर्ड के एक सिरे पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था शुभ विवाह। और दूसरी ओर एक भारतीय कन्या एक भारतीय वर को वरमाला पहनाती दिखाई गई थी।

बालसखा की भेजी हुई निमन्त्रण-पत्रिका थी वह।

मैं अभी इस धक्के से उबर भी न पाया था कि श्रीमती जी ने कहा: 'चपरासी को ट्रक करनी पड़ी इसके लिए, 25 रुपये ले गया है।'

अपनी उस समय की दशा का अब तुमसे क्या वर्णन करूं। मन में आया कि तुरन्त मथुरा ट्रंक काल करके बच्चू को ऐसी सुनाऊं कि जिन्दगी भर याद करे। पर फिर रह गया, सोचा, 'पच्चीस तो खर्च हो ही गए हैं, और क्यों बिगाड़े जाएं।'

एक हफ्ते तक हमारे घर मेला लगा रहा। दूर-दूर तक लोगों में खबर फैल गई कि हमारे यहां एक ऐसी निमन्त्रण-पत्रिका आई है जो न किसीने देखी होगी, न सुनी। टेलीफोन पर उसका वर्णन करते करते मेरा

खबरदार, निमन्त्रण-पत्र भेज दूंगा।

मुह दुख गया। आकाशवाणी में रनिंग कमेंट्री (धारावाहिक वर्णन) की कुछ प्रैक्टिस की थी, वह वह काम आई, वरना मैं शायद बेहोश ही हो जाता।

बस शादी में शामिल होने का मेरा कोई खास इरादा नहीं था, पर ऐसी निमंत्रण-पत्रिका पाकर कैसे रुकता? और कुछ नहीं तो उन्हें जरा अपनी हालत तो बतानी ही थी।

पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि मेरी सारी मुसीबत की कहानी को बड़े रस के साथ सुनने के बाद मेरे बालसखा ने तृप्ति की मुस्कान झलकाई। बोले 'तब तो मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया।

मैंने चौंककर पूछा 'क्या मतलब?'

'मतलब यह। वह बाल-बन्धु बोले 'तुम तो जानते ही हो, लड़की की शादी हम लोगों में कितनी स्मरणीय घटना होती है। एक एक शादी की चर्चा पीढ़ियों तक होती है। आज बरसों से मैं धन इकट्ठा कर रहा था, इस दिन के लिए। सोचा था मुन्नी की शादी इतनी धूम धाम से करूंगा कि लोग दंग रह जाएं। पर बुरा हो इस जमाने का। आधुनिकता की झोंक में सारे पुराने रीति रिवाज मिटा दिए। और तो और, दहेज भी गैर-कानूनी हो गया। तब सोचा कि कम से कम दावत तो शाहखर्च कर दूं। सो भैया, इधर चीनी पर कंट्रोल है, उधर बिजली की सप्लाई पर। धूम-धाम हो तो कैसे? तिस पर, जब से चीनी संकट आया है देश में रिश्वत खोरी एकदम बन्द हो गई है। काफी भाग-दौड़ की, पर कोई नतीजा न निकला। हारकर सोचा, निमंत्रण-पत्रिका पर तो कोई रोक है नहीं। उसी को ऐसा बनाया जाए कि सब देखते रह जाएं। और मेरा ख्याल है मेरी यह स्कीम सफल रही। लोगों का कहना है कि इस निमंत्रण-पत्रिका को वे जनम भर नहीं भूल सकते।'

मैं क्या कह सकता था?

तो भाई, अब तुम समझ गए होंगे कि जब मैंने तुमसे उस दिन कनॉट प्लेस में कहा था कि अगली बार आओ तो मेरे यहां ठहरना नहीं तो निमंत्रण पत्र भेज दूंगा—तो इस वाक्य में हंसी की बात क्या थी?

इन पंक्तियों को पढ़कर तुम जो हंसी हंस रहे हो वह मैंने उस दिन के

मजाक के खाते मे जोड दी है, क्योंकि तुम जानते हो कि किसी भी मजाक का खाता खाली रह जाए तो हमे कितना खलता है।

सस्नेही—

(भारतभूषण अग्रवाल)

सेवा मे—
डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी,
रामजी द्वार, मथुरा।

मीरा के चमत्कार

प्रिय भाई लक्ष्मीचन्द्र जी,

मान गया भई आपको ! आखिर आपने मुझसे लिखवा ही लिया। आज से पहले मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था (मालूम नहीं, स्वप्न में सोचने की प्रथा है या नहीं) कि मैं आपके विशेषांक के लिए कुछ भेज सकूँगा। बात यह है कि आप गजब के सम्पादक हैं (इसे प्रशंसा चाहे मान लें पर कृपया खुशामद न समझें) क्योंकि आप हर साल धूम धाम से अपने पत्र का (वैसे तो वह पत्रिका है पर 'भानोदय' नाम के कारण पत्र कह रहा हूँ) विशेषांक निकाल लेते हैं जबकि हिन्दी में ऐसी अनगिनत (यानी जिनकी गिनती करने का कष्ट अभी किसीने नहीं उठाया) पत्र पत्रिकाएं हैं जो अपना साधारण अंक निकालने में ही ढेर हो जाती हैं। और आप हर साल मुझे विशेषांक में लिखने की दावत देते हैं (इसे किसी अन्य प्रकार की दावत न देने की शिकायत न मानें) और मैं भी हर साल यह सोचकर कि आप तो विशेषांक हर साल निकालते रहेंगे, मैं कब तक आपका साथ निभाऊंगा, चुप लगा जाता रहा हूँ। मुझे याद है, पहली बार आपने 'इतिहास विशेषांक' के लिए मुझसे रचना मांगी थी। पहले तो मैं ताज्जुब में पड़ा क्योंकि मैंने न तो इतिहास बनाया है, न लिखा है न पढ़ा है, और न उसमें कोई शोध कार्य ही किया है, फिर उसे आपका स्नेह-स्मरण मानकर कृतज्ञ बना बैठा रहा। पर जब 'इतिहास विशेषांक' देखा तो भेद समझ में आया। उसमें ऐसे अनेक लेखकों की रचनाएं थीं जिनसे इतिहास के किसी भी संबंध की खबर मुझे न थी। तब मुझे थोड़ा पछतावा भी हुआ कि यों तो मैं भी विश्रान्त घाट के इतिहास पर एक रोचक काल्पनिक निबंध भेज सकता था। तभी मैंने तय कर लिया कि आपके अगले विशेषांक का निमंत्रण खाली नहीं जाने दूंगा। पर मेरा दुर्भाग्य देखिए कि

वाले वाला विशेषांक निकाल... [illegible] । मैं फिर मन मारकर रह गया । क्योंकि [illegible] के परिवार का [illegible] रहा हूं, और अब [illegible] परिवार है पर उसमें खोजने पर भी मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिले जो लेख का विषय बने । और तो और, मेरे परिवार में ऐसी कोई [illegible] समस्या भी नहीं है जिसकी चर्चा करने का मन करे । हां [illegible] अवश्य कर सकता हूं, पर वह आपके पाठकों को (जो [illegible] ही आखिर तो मनुष्य हैं) खटक सकती है । इसलिए चुप [illegible] । [illegible] तक चुप लगाए रहो पर पता चला कि अब आप '[illegible]' निकाल रहे हैं । तब मैंने चैन की सांस ले सका । क्योंकि मुझे पूरा भरोसा था कि आपका [illegible] जितना जोर मारे, इस विशेषांक का सम्बन्ध मुझसे नहीं जोड़ा जा सकता । पर इस बार भी मुझे [illegible] मानना पड़ गया । आपने मुझे तो [illegible] बख्श दिया पर मेरी पत्नी के नाम तकादे पर तकादे आने लगे । [illegible] तो मेरी सलाह मानकर वे टालती रहीं, पर जब आपकी ओर से [illegible] एक नयनाभिराम और [illegible] परिपत्र आए तो [illegible] गया, और उन्होंने नवोदित विशेषण के अनुरूप अपना [illegible] छोड़कर अपना परिचय भी लिख डाला । आपको कोई [illegible] यही मह बता देना उचित होगा कि उस परिचय में [illegible] की गई थी । पर उनकी प्रशंसा को सार्वजनिक बनाने [illegible] नहा । इसलिए आपको भेजने के पहले जब उन्होंने [illegible] तो मैंने अनुभव प्राप्त नीति से काम लेकर [illegible] यह बताया कि तुम अच्छा लिखती हो, और [illegible] मेरी कामना है । इसलिए जितना चाहे लिखो [illegible] लेखिका मत बन बैठना, नहीं तो [illegible] जाएगा । इस वाक्य पर वे चौंकी तो [illegible] लेखिका बनते ही तुम्हें ढेरों ऐसे [illegible] सम्भव नहीं । मसलन, तुम्हें गोष्ठियों [illegible] संपादकों के घर में ताला लग जाएगा और [illegible] तुम्हारे हाथ दुख जाएंगे, सभा गोष्ठियों [illegible]

जाएगी, उदघाटन भाषण देने पड़ेंगे, और ताज्जुब नहीं जो तुम बहुत-सी कमेटियों की मेम्बर भी बना दी जाओ। फिर लिखने का टाइम कहाँ से लाओगी? (मैं अपनी आँखों देख चुका हूँ कि कमेटियों के मेम्बर बनते ही बड़े-से-बड़े लेखक का भी लिखना खत्म हो जाता है, और उनके लिए बस यही चारा बचता है कि ठेके पर लिखवाएँ)। जैसे तैसे पत्नी को मेरी सलाह जँची और वह सामग्री ज्यों-की-त्यों पड़ी रह गई। (इधर 'ज्ञानोदय' के पिछले अंक में भाई राजेन्द्र यादव का लेख निकला तो मैंने उसे श्रीमती जी को पढ़ाया और बताया कि तुम कितने बड़े खतरे से बच गई हो। कहीं आप दूसरे उपन्यास प्रयोग के लिए हम लोगों की पर्चीं निकाल देते तो फिर न जाने क्या होता!) इस तरह आपके तीनों वार खाली गए और मैं मज़े से आपके विशेषांक का पाठक मात्र बनकर निश्चिन्त जीवन बिताता रहा।

यही कारण है कि जब उस दिन 'व्यंग्य विनोद विशेषांक' के लिए आपका पत्र आया तो मेरे कान पर जूँ भी नहीं रेंगी। (यह केवल मुहावरा प्रयोग है, वैसे मैं रोज़ नहाता हूँ, इसलिए जूँ रेंगने का प्रश्न ही नहीं उठता) मैं निश्चिन्त था कि यों चाहे जितने व्यंग्य विनोद मैंने लिखे हों, इस अवसर पर मेरे हाथ कुछ नहीं लगने का, और इसलिए आपके विशेषांक का मैं तटस्थ पाठक दृष्टि से रसास्वादन कर सकूँगा। पर कल एक ऐसी घटना घट गई कि यह पत्र लिखना ही पड़ा। और यद्यपि इस पत्र में कोई रचनात्मक गुण नहीं है, पर आपकी उदार दृष्टि कब चूकने वाली है, आप इसे अपने विशेषांक में जगह देंगे ही। तभी तो मैं कहता हूँ कि आपको मान गया।

असल में उसे घटना कहना अध-व्याप्ति की ही चेष्टा समझी जाएगी। वास्तव में वह एक संयोग मात्र है। 'व्यंग्य विनोद विशेषांक' वाला आपका पत्र पाकर मैं उसे जेब में डालकर कॉफी हाउस चल दिया। इरादा था कि कुछ ऐसे लेखक, जो ख्वामख्वाह मुझे अपना प्रतियोगी समझते हैं, अगर दिख गए तो उनके सामने आपका पत्र निकालकर पढ़ने का अभिनय करके उन्हें चिढ़ाने का आनन्द प्राप्त करूँगा। पर खैर, कॉफी हाउस में एक भी प्रतियोगी नहीं था (अक्सर प्रतियोगी उन्हीं को

कहते हैं जो ठहर नही पाते) भास्कर जी जरूर थे। आप चौकेंगे कि यह भास्कर जी कौन है, क्योकि सजग सम्पादक के नाते आपने अपने कार्यालय मे समस्त हिन्दी लेखको की जो सम्पूर्ण सूची बना रखी है उसमे भी यह नाम न होगा। इसलिए आपका श्रम बचाने के लिए यही बता दू कि भास्कर जी लेखक नही है, बेकार है, हा लेखक बनते जरूर हैं। जब कॉफी हाउस मे एक भी लेखक नही होता तब वे नव लेखन की गभीर समस्याओ पर चर्चा करते रहते है) आपके पत्र-पाठन का वार भास्कर जी पर करना व्यर्थ था इसलिए मैंने 'हॉट मिक्स्ड' की जगह 'कोल्ड कॉफी' का आडर देकर ही सतोष किया। कॉफी आने पर मै उसे धीरे धीरे 'सिप' करता रहा और कनखियो से देखता रहा कि भास्कर जी का इरादा मेरे पास आकर बैठने का है, या चुपचाप बाहर खिसक जाने का।

पर जब काफी देर हो जाने पर भी भास्कर जी न उठकर न तो मेरे पास आने की चेष्टा की न अपनी सीट खाली करने की, वरन लगातार दरवाज़े की ओर टकटकी लगाए रहे, तो मैं समझ गया कि वे किसीकी बाट देख रहे है। मैं मन ही मन किसी अनहोनी घटना के लिए तैयार हो गया।

कुछ देर बाद मैंने देखा कि एक विदेशिनी तरुणी ने भीतर पदार्पण किया जिसे देखते ही भास्कर जी खिल उठे (यानी खिले भी और उठे भी)। तरुणी को अपने सामने ससम्मान बठाकर वे मन्द मुस्कराने लगे। (उस तरुणी का रूप वर्णन करने की चेष्टा न करूगा क्योकि भारतीय काव्य शास्त्र म उसके लिए कोई गुजाइश नही है। उदाहरण के लिए, अगर नीली आखें कहू तो रसाभास ही होगा, और काली कहने से झूठा बन जाऊगा।) धीरे धीरे भास्कर जी बातो मे मगन हो गए, और मैंने अपना ध्यान दीवार पर टगे 'कॉफी-बोर्ड' के विज्ञापनो पर केंद्रित कर दिया।

आप स्वय मेरे आश्चर्य का अदाजा लगा सकते हैं जब अचानक भास्कर जी उस विदेशिनी को लिए मेरी टेबिल पर आ उपस्थित हुए और तपाक से बोले आप हैं मिस स्टेला। नार्वे मे आई हैं। हिन्दी जानती हैं। (उनके हिन्दी ज्ञान की सूचना से मुझे खुशी हुई कि दैनिक साप्ताहिक

के सम्पादकों के हाथ एक नया विषय आ गया। अब हिन्दी को विश्व-भाषा बनाने का आन्दोलन छेड़ा जा सकता है)।

मैंने अवसरोचित अभ्यर्थनापूर्वक उन्हें स्थान दिया और इधर उधर की बातें करके जान लिया कि मिस स्टेला अध्ययन के लिए भारत आई है, अपने यहां की किसी संस्था की रिसर्च स्कालरशिप के सहारे। (न जाने भारतीय संस्थाएं इस शुभ प्रवृत्ति का कब अनुकरण करेंगी)। इस-लिए मैंने अपनी बातचीत धीरे धीरे उनके अध्ययन की ओर मोड़ दी।

मैंने पूछा आपके अध्ययन का विषय क्या है?

'मैं मध्ययुगीन यूरोपीय और भारतीय संतों के जीवन में चमत्कार-तत्व पर शोध-कार्य कर रही हूं।

मैं दंग रह गया। जहां तक शोध के विषयों का सवाल है मेरी धारणा थी कि हमारे विश्वविद्यालय जैसी जैसी दूर की कौड़ी लाते हैं उनका जवाब पाना मुश्किल है, पर मैंने देखा कि पश्चिम यहां भी बाजी मार ले गया। घबराकर पूछा यह विषय आपको किस विभाग से मिला है।

'सोशियोलोजी से। असल में संतों के चमत्कारों का तर्क और विवेक-पक्ष यही है कि वे सामाजिक अंधविश्वास के सहारे खड़े हैं। इसलिए उनकी जांच पड़ताल करने से मध्ययुगीन सामाजिक विश्वासों की ऊहापोह की जा सकती है। आपका क्या मत है?'

मेरा मत था ही क्या। काफी देर मैं चुप बैठा रहा। फिर कुछ कहना जरूरी समझकर मैंने कहा सच पूछिए, तो इस दृष्टि से इस समस्या पर मैंने कभी विचार नहीं किया। हमारे यहां प्रायः सभी संतों के जीवन से चमत्कारों का सम्बन्ध जोड़ा गया है। मैं तो उन्हें जनता की श्रद्धा के प्रमाण रूप में ही देखता हूं। किंवदन्तियों के अलावा उनके कोई और प्रमाण है भी नहीं। और फिर, उनपर मेहनत करने से हाथ भी क्या लग सकता है?

स्टेला कुछ चौंकी, फिर संयत भाव से बोली 'यहां मेरा मतभेद है। किंवदन्तियों के पीछे कहीं-न-कहीं सत्य अवश्य होता है। यह और बात है कि वे काफी अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण हों। पर उन्हें निराधार मानने के लिए पुष्ट प्रमाण आवश्यक है।

'बिल्कुल ठीक। मैंने कहा 'इसी प्रकार उन्हे सत्य मानने के लिए भी प्रमाण आवश्यक हैं। एक उदाहरण देकर मैं बात साफ करता हू। जिन दिनो गाधीजी जेल मे थे उन दिनो एक किवदन्ती काफी दूर दूर तक फैली थी कि वे कुछ घण्टो के लिए जेल से अदृश्य हो गए। अब आप ही बताए, इसके पीछे जनता की श्रद्धा के अतिरिक्त और क्या सत्य हो सकता है ? और फिर, यह तो ऐसी कोई पुरानी बात भी नही है। फिर भी हमारे यहा किसीने इसपर शोध करना जरूरी नही समझा। क्योंकि असल मे उसके पीछे कोई सत्य है ही नही जिसे खोजा जाए। वह निरी भावना की बात है जिसे कपोल कल्पना से अधिक कुछ नही कहा जा सकता।'

'जी नही, यह मैं नही मानती। इसकी खोज होनी चाहिए। और खोज होगी तो आप स्वय आश्चर्य मे पड जाएगे।

'आश्चर्य मे तो मैं इसी बात से पड गया हू कि आप इसे खोज का विषय मानती हैं। असल मे आप भारतीय जीवन और जन मन से परिचित नही है। हमारे यहा व्यक्ति को और उसकी जीवन घटनाओ को कभी कोई महत्व नही दिया गया, यहा तक कि किवदन्तियो के खण्डन तक का कोई प्रयत्न नही किया गया। मीरा के ही जीवन को ले लीजिए।'

भास्कर जो अब तक नितान्त निश्चल निर्वचन बैठा हुआ था, यकायक तडपकर बोला 'ले लीजिए।'

'मीरा के जीवन मे हम क्या पाते है ? मैंने बातचीत का सिलसिला जारी रखते हुए कहा, 'कहा जाता है कि उनको पिटारी मे साप रखकर भेजा गया पर जब उन्होने पिटारी खाली तो उसमे से सिर्फ एक फूलो का हार निकला। इसी तरह, उन्हे जहर का प्याला भेजा गया जो वे अमृत की तरह गटागट पी गइ और उनका बाल भी बाका न हुआ। आप ही सोचिए, भला कभी यह सभव है ? क्या सर्प या विष किसी भी तर्कपूर्ण प्रणाली से फूल और अमृत बन सकते हैं ? अब आप क्या तो इनकी खोज करेंगी और क्या उससे हाथ आना है ?'

'जहा तक इन दोनो घटनाओ का प्रश्न है। स्टेला ने बहुत शान्त भाव

मे बैठा था। वे मेरे पास आकर बोले 'क्या सोच रहे हो ?'

'सोच रहा हू कि इतनी बडी खोज तुमने अभी तक प्रकाशित क्या न कराई, दबा क्या रक्खी ?'

'किसीसे न कहने का वायदा करो तो बताऊ।'

और उपाय भी क्या था, मैंने वायदा कर दिया।

'दिस इज एक्स्क्लूसिवली फॉर एक्सप्लोट। भई, कुछ मेरी बेकारी का भी तो ख्याल करो।'

अब आप ही बताइए इसके बाद यह कैसे सभव था कि मैं आपको यह पत्र न लिखता। पर अगर स्थानाभाव के कारण इसे अपने विशेषाक मे जगह न दे सकें तो मैं यह मानकर परम सन्तोष प्राप्त करूगा कि मैंने भास्कर जी के साथ विश्वासघात नहीं किया।

सस्नेह आपका
भारत भूषण अग्रवाल

सेवा मे
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक ज्ञानोदय,
कलकत्ता।

राजधानी में राष्ट्र कवि

जब कार मौलाना आजाद रोड पर मुड़ी तो रात हो चुकी थी। शाम की भड़ी बरसकर चुक गई थी, पर अभी हल्की-हल्की बूँदें पड़ रही थीं। हमने कार के कांच चढ़ा रखे थे। दोनों ओर की लाइटें गीली, पक्की सड़क पर झलक मार रही थीं।

अचानक कार दो पदचारियों की बगल से गुजरी। एक को मैंने पहचान लिया—श्री प्रभुदयाल मीतल। झटके से कांच उतारते हुए मैंने मुड़कर कहा, 'आइए, आइए।

कार रुक गई, जैसे मैंने कोई परिचित संकेत दिया हो। गाड़ी का दरवाजा खोलकर भीतर आते हुए मीतल जी बोले 'तुम खूब मिले।' पर फिर चालक पर नजर पड़ते ही वे फूट पड़े 'अरे डा० नगेन्द्र ! वाह-वाह, आपके यों अचानक दर्शन हो सकेंगे, यह नहीं सोचा था।

मीतल जी और उनके सहयात्री श्री मोहनसिंह सेंगर पीछे की सीटों पर बैठ गए। नगेन्द्र जी ने विज्ञान भवन के सामने पहुंचकर कार मीनाबाग फ्लैट्स के अहाते में मोड़ दी। अगले ही क्षण हम राष्ट्र-कवि की बैठक में थे।

जादुई जल पान

गुप्त जी अकेले नहीं थे हलके भैया (श्री श्रीनिवास गुप्त) ड्यूटी पर मौजूद थे। दद्दा के साथ रहने की ड्यूटी बड़े भागों से मिलती है। रोज मिले तो भी उसे रोज ही सौभाग्य समझिए। क्योंकि उसकी कोई लिखा पढ़ी नहीं होती, न कोई अनुबंध। इसीलिए उसका लोभ रहता है।

दद्दा ने मीतल जी से मथुरा के समाचार लिए दिए। ऐसे मौसम में दर्शन देने का कष्ट करने के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। नगेन्द्र जी

को निश्चल बैठना दूभर होता है। वे इधर-उधर मँडरा रहे थे। बीच-बीच में कुछ वाक्य जोड़ देते।

हम लोग दद्दा के साथ नीचे गद्दों पर ही बैठे थे। दद्दा के कमरे में कुर्सियाँ भी रहती हैं, और दूर कोने में डाइनिंग टेबिल भी। पर उनकी बैठक में कुर्सियों पर बैठना न जाने क्या बड़ा कृत्रिम लग उठता है।

तभी न जाने कहाँ से हमारे सामने प्लास्टिक का एक दस्तरख्वान बिछ गया और अगले ही क्षण उसपर चाय की ट्रे और चार तश्तरियों में जलपान आ गया। मैं दंग था। दद्दा ने न कुछ पूछा था, न कुछ कहा सुना था, न कोई इशारा ही किया था। फिर यह क्या जादू था? सच्ची व्यवस्था वही है, जो अनायास हो। जलपान की यह अनायासता बहुत-कुछ वैसी ही थी जैसे दद्दा की कविता में तुक होती है—सोचा नहीं कि चट-से हाजिर!

तश्तरी में एक लड्डू, एक मठरी और हरी चटनी। यह दद्दा के यहाँ की बँधी प्रसादी है। उसके रूप रंग में ही नहीं उसके स्वाद में भी विशुद्ध भारतीयता है। जब बरफी भी चाकलेट की बनने लगी है, तब यह परम्परागत आहार मजे का नयापन दे उठता है। हम लोग सोच ही रहे थे मनु नच करने की कि इतने भैया पूछ उठे, 'चीनी एक चम्मच या दो?' चम्मच उन्होंने इस तरह थाम रखी थी जैसे यज्ञ में आहुति डालते हैं।

छोटी सी मुलाकात थी, हम लोग जल्दी ही उठ आए। सीतल जी को मथुरा की ट्रेन पकड़नी थी और नगेन्द्र जी तो इसी बीच दो बार फोन भी खटका चुके थे। बड़ी सामान्य-सी घटना, ऐसी कि उसका जिक्र भी क्या! मेरे लिए उसमें कोई खास या नई बात न थी। पर उस साधारण सी घटना में भी कुछ असाधारणता है, इसका पता बाद में चला।

कुछ दिन बाद मथुरा से एक मित्र आए तो उन्होंने बातों-ही-बातों में बताया कि सीतल जी उस दिन को भूल नहीं हैं, बीच-बीच में याद किया करते हैं। बिना किसी विशेष अवसर आयोजन के, बिना किसी विधिवत आमन्त्रण के, अचानक कहीं चार छः साहित्यकार इकट्ठे हों, फिर न कोई खास बात ही न हो, यह उन्हें बड़ी विस्मयजनक बात लगी। और जब मैंने इस बार में सोचा तो मुझे लगा कि सीतल जी भी ठीक ही कहते हैं।

कही ऐसा न हो कि आपके पहले दद्दा ही आपको प्रणाम कर बैठें, और बैठने को कुर्सी की ओर सकेत करें। मेरा ख्याल है (पूछने का साहस नही हुआ) कि कुर्सिया सूटड-बूटेड लोगो के लिए है। पर मैं पेण्टधारी होते हुए भी कभी उनपर बैठने की चाह न कर सका। दिल्ली मे ही एक और पूज्य साहित्यकार हैं जिन्होने लिख रखा है 'यह भारतीय घर है, यहा जूते उतारकर आइए।' पर दद्दा को यह लिखने की भी जरूरत न पडी। उनके दरवाजे पर पहुचते ही अपने आप पैरो से जूते निकल जाते है। और दद्दा के साथ गद्दी पर बैठना इतना आकर्षक लगता है कि कभी कभी लोगो को अजीब-अजीब आसनो की कसरत करनी पड जाती है। फिर भी कुर्सी पर कौन बैठे।

अगर आप दद्दा के पास यह सोचकर गए ह कि वे कविता सुनाएग या साहित्य-चर्चा छेडेंगे या किसी गम्भीर विषय पर प्रवचन देंगे, तो आप बडे भ्रम मे हैं। साहित्य की चर्चा तो वहा इतनी निरथक लगने लगती है कि होती ही नहीं। आप कोई पुस्तक भेंट करने गए हो तो भी शायद उसे बैग म धरे धरे ही वापस ले आए। नही, दद्दा साहित्य की दीवार खडी नही करते। जो लोग करते है वे सस्ते यश के कामी होत है, और दद्दा की मान्यता है कि साहित्यिक यश लिया-दिया नही जाता, वह तो मिलता है। (निया दिया वह नही, मात्र यह ग्रहण किया जाता है दिनकर) दद्दा तो सीधे आपसे, आपके सुख दुख से मिलना चाहते हैं। यो, दद्दा के दरबार मे जैसे हर किसीको आने की छूट है, वैसे ही हर विषय को— बात अप्रासगिक हो तो और भी बेहतर। आप मुक्त मन से कहते जाइए, दद्दा मुक्तकण होकर सुनेंगे और उनका मुक्त हृदय उनकी आखो मे झनक आएगा। दद्दा ज्यादातर सुनते ही है, कहते नही। पर सुन रहे ह इसका प्रमाण बडे जोर से दते हैं। आपकी मामूली से मामूली और फालतू से फालतू बात मे भी कोई हसी की सधि निकाल लेंगे और फिर वह कहकहा कि आपकी सारी दूरी गायब हो जाएगी। पर एक सलाह देता हू। दद्दा से कोई ऐसी बात न कहिए, जो न कहने की हो। दद्दा भेद रखने मे विश्वास नही रखते। आपने बात कही और चार दिन बाद अचानक रास्ते चलते कोई बन्धु आपको उसे अविकल रूप से सुना देंगे। इसीलिए,

दद्दा का दरबार चाहे खुला हो, पर उसमे खुल वे ही पाते है जिनका हृदय उन्हीकी भांति निष्कलुष हो। उनके दरबार मे जो चुप रहे, उसे मैं आत्म-निरीक्षण की सलाह दूगा।

यह खुलापन ही सच्ची सहानुभूति है। नई दिल्ली की कृत्रिम जिन्दगी मे आपने जो कुछ गाठें समेट ली हो, उन्हे यहा उघार डालिए, सवेदना तो कहते कहते ही मिल जाएगी, कुछ व्यावहारिक सहायता की जरूरत हुई तो वह भी आपको बिन मागे पहुच जाएगी। मेरे मित्र श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने ऐसी कई घटनाए मुझे सुनाई हैं जब दद्दा की सूक्ष्मदर्शी उदारता ने अप्रस्तुत प्रार्थी को चकित कर दिया है। उनका उल्लेख इस रेखाकन को न जाने कहा ले जाएगा। पर हममे से शायद ही कोई हो जो उससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिचित न हो। जो उनके पास आया है वह उनका है, मानो उनके परिवार का सदस्य हो। उसका दुख सुख उनका है, वे उसम भाग बटाने को आप से भी ज्यादा तत्पर मिलेंगे। यह तत्परता ओढी हुई नही है, उनके स्वभाव का अग है, वह ऊचे-नीचे साहित्यकार तो क्या, साहित्यकार असाहित्यकार मे भी भेद नही करते। इसलिए अपने मन का बोझ उनके पास उतार दीजिए। दद्दा सब सहते है और सो भी ऐसे कि आनन्द पाते हो।

अनौपचारिक कण्ट्रोल रूम

इसीलिए दद्दा का दरबार एक अनौपचारिक कण्ट्रोल रूम है। शहर भर के समाचार वहा आते और वितरित होते रहते है। दूर दूर फैली यह राजनगरी जिसके अग प्रत्यगो के बीच मे डी० टी० यू० की मुर्दार धुएदार बसो के अलावा निजी कार ही एकमात्र गति है, अपनी हलचल यहा सहज ही प्रतिबिम्बित पाती है। आप शक्ति नगर मे रहते हैं, आकाशवाणी के काम से नगर मे कोई प्रसिद्ध साहित्यकार आए हैं, आप उनसे मिलना चाहते हैं, कहा मिले? दद्दा के दरबार मे पहुचिए बहुत सम्भव है कि वे आपसे भी पहले वहा पहुच चुके हो। कम से कम उनका अता पता तो वहा मिल ही जाएगा। क्योकि वहा सदा ऐसी सगत मिलेगी, जैसी पोस्ट-आफिस मे डाकियो की होती है। सारी सूचना तुरन्त हाजिर। और अगर दुर्भाग्य से आप वहा तक जाने मे भी मजबूर हो तो फोन खडका दीजिए।

राज्यसभा की सदस्यता से दद्दा को जितनी भी सुविधाए मिली है उनमे से इसी का उपयोग वे सहज स्वीकार करते हैं। उनका फ्लैट तो ऐसा ही साफ और सूना रहता है जैसे किसी मदिर का प्रकोष्ठ।

दद्दा का नई दिल्ली-प्रवास सचमुच एक तीर्थ है। एक दो नही, न जाने कितनी धाराए वहा आकर मिलती है और उसे शीतल और पवित्र सगम का रूप दे देती हैं। दद्दा स्वय उसमे सरस्वती की भाति बहुधा प्रच्छन्न मौन ही रहते है। पर उनके बिना उस सगम का कोई अस्तित्व सम्भव नही। वे राष्ट्रकवि हैं, राष्ट्र को उन्होने वाणी दी है। यह उपाधि भी उनको अनायास और न जाने कब किससे मिली है पर इसे भी जैसे वह औरो पर ही लुटा देते है, अपने पास नही रखते। उनके पास तो बस एक भागवत हृदय है, परम आस्थावान, निष्ठा मूर्ति, जो अनुभव और सयम से इतना मज चुका है कि नदी की धारा की तरह अक्षुण्ण, उन्मुक्त और सगीतमय बन चुका है। उनसे आशीर्वाद मागना नही पडता, उनके दर्शन करते ही वह अपने आप मिल जाता है।

सच्ची भारतीयता

दद्दा के मुख पर ही नही, उनके आस पास भी भारतीयता का एक प्रभा-मण्डल दिखाई पडता है, ऐसा जिसे अग्रेजी मे 'हैलो' कहते है। अक्सर हम भारतीयता का अर्थ प्राचीनता, आधुनिकता और कट्टर रूढिवादिता समझते हैं। पर दद्दा के आस-पास जो भारतीयता है, वह सच्ची भारतीयता है। वह भारतीयता का सेतु है। समझौता और सामजस्य उसे न कहूगा— इन शब्दो म सप्रयासता की गन्ध है जो गुप्त जी के व्यक्तित्व से कोसो दूर है। वे तो मिलन पथ ह, भिन्नो को अभिन्न रूप देते हुए और उसी मिलन रूप मे अनुक्षण स्थित। वे पूर्व और पश्चिम के, प्राचीन और नवीन के, ग्राम और नगर के, साहित्य और जीवन के—और न जाने कितने पृथक् पृथक् तत्वो के मिलन सेतु है। विचार धाराए, साहित्य धाराए मन की कुण्ठाए और प्रीति-वैर सब वहा पहुचकर अपनी निष्पत्ति पा जाते है। वे कवि है पर आदर्श गृहस्थ भी हैं, वे उदार है पर व्यवसाय म नही चूकत कल्पना उनका परिचित लोक है पर मशीन को समझते-

राव साहब और रामायण-पाठ

बात सन 1954 के आस-पास की है जब हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि और लेखक श्री बालकृष्ण राव आल इंडिया रेडियो के महासंचालक पद से निवृत्त होकर प्रयाग में आकर बस गए थे। संयोग से उन्होंने रहने के लिए टैगोर टाउन में इंडियन प्रेस द्वारा बनाए गए बंगलों में से एक बंगला किराए पर लिया था। उन्हीं बंगलों के पिछवाड़े एक छोटी-सी कुटिया में मैं भी रहता था। राव साहब के बंगले और मेरी कुटिया के बीच केवल एक ही बंगला और था। उन्हें अपने इतने निकट पाकर उनकी संगति का लाभ उठाने से मैं कैसे चूक सकता था। अतएव प्रायः नित्य ही उनके घर पर मैं बैठक जमाने लगा। तभी एक दिन शाम को जब मैं राव साहब के यहां चाय पी रहा था, बातों-बातों में राव साहब ने कहा 'इण्डिया' (राव साहब मुझे इसी अनूदित नाम से पुकारते हैं) तुम्हारे पड़ोस में कोई रामायण-पाठी रहता है जो रोज रात को दस बजे के बाद बड़े ही बेसुरे ढंग से रामायण पढ़ता रहता है। क्या तुमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया?' मैं कुछ सहमा, फिर बोला, 'नहीं, मैंने तो कभी नहीं सुना!' राव साहब 'यह तो आश्चर्य की बात है। वह तो बड़े ही बेसुरे ढंग से गाता है और बड़े ही जोर से गाता है। अगर तुम घर में रहते हो तो यह हो ही नहीं सकता कि वह तुम्हारे कानों में न पड़े और तुम्हें रामचरित मानस के प्रति इस अन्याय से क्रोध न आए। पर मैं सिवाए अज्ञान दिखाने के और कुछ न कह सका।

इस घटना के लगभग दस दिन बाद जब फिर मैं राव साहब के पास बैठा चाय पी रहा था तो मैंने उनसे पूछा 'क्या अब भी आपको वह बेसुरा रामायण पाठ सुनाई पड़ता है?' इतना पूछना था कि उमा जी (श्रीमती उमा राव) तपाक से बोली 'अरे, उसको इधर कई दिनों से

लेखक ? नही ! नही !

नई दिल्ली,
नव वर्ष दिवस, 1964

प्रिय राजेन्द्र,

तुम्हारा पत्र मिला। पढकर इतना कष्ट हुआ कि क्या बताऊ ! रात भर नीद नही आई। करवटें बदलते बदलते ही सवेरा हो गया। यही सोचता रहा कि स्वर्गीय भाई साहब (यानी तुम्हारे पिताजी) को कैसे मुह दिखाऊगा। भैया, यह तुमने क्या ठान ली है? इतना धन और परिश्रम खर्च करने के बाद तो तुम इतनी शिक्षा पा सके हो, और अब तुम कहते हो कि तुम कवि बनोगे ? लेखक बनोगे ? मैं पूछता हू कि तुम्हे कवि या लेखक ही बनना था तो तुमने अपने पिताजी की जोडी हुई यह सम्पत्ति अपनी शिक्षा मे क्यो खर्च की ? कवि या लेखक बनने के लिए पढने की क्या जरूरत थी ? मैंने तो सुना है कि शेक्सपियर, गालिब, टैगोर किसी यूनिवर्सिटी मे नही पढे थे। तुमने लिखा है कि तुम बचपन मे ही तय कर चुके थे कि कवि बनोगे। अगर तुमने यह बात पहले ही बता दी होती तो मैं कम से कम भाई साहब की सम्पत्ति तो बचा ही लेता चाहे तुम्हें न रोक पाता। पर अब तो उसका समय हाथ से निकल चुका है।

नही, मैं तुम्हे लेखक नही बनने दूगा। मैं तुमसे आग्रह करता हू कि तुम यह विचार अपने मन से सदा के लिए निकाल दो। लेखक कोई बनता नही, उसे तो भगवान ही बनाता है। मै तो बचपन मे यही सुनता आया हू। कालिदास, तुलसीदास, कोई अपने आप नही बने थे, उन्हे भगवान ने बनाया था। हा, आजकल के कवि अपने आप बने हैं और बनते फिरते हैं। उनकी दुर्दशा भला किससे छिपी है। बेचारे कवि सम्मेलनो के सयोजको और साप्ताहिक पत्रो के सम्पादको की खुशामद करते रहते हैं।

फिर भी मुझे तो कोई खुशहाल नजर नहीं आता। गाठ की जमा पूजी खच कर यह बेकारी का धधा अपनाने का विचार तुम्हारा कैसे हो सकता है—मेरी तो बिल्कुल ही समझ मे नही आता। क्या तुम नही जानते कि आजकल के लेखको की सारी जिन्दगी भुखमरी और फटेहाली मे ही गुजरती है। बहुतो की हालत तो इतनी खराब रहती है कि न घर-गृहस्थी जमा पाते हैं न शादी ही कर पाते हैं। और शादी के बिना तो जिन्दगी पूरी बरबादी हो है।

शायद तुम यह सोचते होगे कि तुम लेखक बनोगे तो ढेरो किताबें लिखोगे, खूब नाम कमाओगे। इस फेर म मत रहना। आजकल किताबें कौन पढता है? है किसीको इतनी फुरसत? गृहस्थी के कोल्हू मे पिसते-पिसते ही प्राण निकल जाते हैं—किताबें पढने का समय कहा से आए? हा, कभी कभार मन हुआ तो लोग सिनेमा जरूर देखते है। पर मैंने यह भी सुना है कि सिनमा म गीत को छोडकर और किसी काम के लिए लेखक की जरूरत नही पडती। और फिलहाल सिनेमा के लिए गीत-लेखको की सख्या इतनी अधिक है कि अगले बीस साल तक तो मुझे तुम्हारे लिए कोइ गुजाइश नजर नही आती।

रही नाम की बात। तो एक तो, जितना नाम नेताओ, ऐक्टरो और खिलाडियो को मिलता है आजकल उतना नाम मैंने किसी भी लेखक को मिलते नहीं देखा। दो तीन साल की बात है। अचानक पता चला कि हिन्दी का कोई बहुत बडा लेखक मर गया है। अजीब सा नाम था—हा, याद आया निराला। खैर, वे जरूर बडे रहे होगे, हालाकि मैंने पहले तो उनका नाम कभी सुना न था। उनके लिए शोक सभा हुई। तो मैंने देखा कि शोक-सभा की अध्यक्षता कोई लेखक नहा एक नेता ही कर रहे है। बोला, अब कौन बडा हुआ—लेखक कि नेता? सभा म पता चला कि उनकी मृत्यु बडे दुख मे हुई ठीक स उनका इलाज भी न हो सका। मैंने पास बैठे एक सज्जन से कान म कहा बडे लेखक थे फिर उन्हे क्या कमी रही होगी खूब पैसा मिलता रहा होगा किताबो स। बोले बड लेखक तो थे, पर उनकी किताबें कोई नही पढता था। मैंने पूछा क्या? बोले वे कोम म नही थी, कोम मे तो पुरान लेखको की ही

किताबें लगाई जाती है। मैंने तभी समझ लिया कि लेखक बनना बडी भारी मूर्खता है। पर आश्चय है कि ये सब बातें जानते हुए भी तुम लेखक बनने की ठाने हुए हो।

इसलिए राजेन्द्र, मेरे कहने से तुम यह मनहूस ख्याल अपने मन से फौरन निकाल दो। मैं तो कहता हू, तुम नेता बनो, नेता। उसमें हर तरह से आराम है। नाम सम्मान की कोई कमी नही, पूरा ठाठ-बाट, और काम सिफ भाषण देना। सो भी सिफ यह बताना कि दूसरे लोग क्या करें। और इसमे भला क्या मुश्किल है। दूसरे क्या करें यह तो मैं भी बता सकता हू, हालाकि मैं मैट्रिक फेल हू।

हो सकता है, तुम कहो कि तुम्हे भाषण देना नही आता, भाषण भी एक कला है वगैरह, वगैरह। खैर, वह कैसी कला है सो तो मैं खूब जानता हू, पर हा, तुम बचपन से ही दब्बू रहे हो और शायद जनता की भीड के सामने तुम्हारी घिग्घी बध जाए। वैसे भी नेता बनने म टाइम लगता है। शुरू मे बहुत सा रुपया भी खचना पडता है, और आखिर म फेल होने का भी चास रहता है। इसलिए, नेता को गोली मारो, तुम तो अफसर बन जाओ। शान से एम० ए० पास करो और फिर कोई ऊची-सी पोस्ट मार दो। बस फिर पौ बारह है। पक्का काम, पक्का धधा—कोई भाग-दौड नही, कोई झझट नही। जिधर निकल जाओगे लोग सलाम झुकाएगे, तलवे सहलाएगे, जी हुजूरी करेंगे। गर्मियो मे पहाडो की सैर करोगे, बच्चे कार म बैठकर स्कूल जाएगे और तुम्हारी पत्नी सारे सास्कृतिक समारोहो की लीडर बन सकेगी। जरा सोचकर तो देखो, अफसर से बडा और कोई क्या हो सकता है। मौके पर तो नेता तक को उसके आगे झुकना पडता है। और यह मत समझना कि सिफ बधी तनख्वाह पर ही गुजारा करना पडेगा। अरे नही, अफसरी मे ऊपरी आमदनी के हजारो जरिये हैं—थोडी-सी चतुराई चाहिए। पर उसकी फिक्र न करना—वह तो देखते-देखते अपने आप आ जाती है।

हा, एक बात जरूर है, अफसर को कभी-कभी डाट फटकार भी सहनी पडती है। मेरा अपना तजुर्बा है कि बडे से बडे अफसर बिचारे इसीलिए सिटपिटाए-से रहते हैं। तो फिर एक काम करो—तुम प्राध्यापक बन

जाओ। उसमे किसीकी डाट फटकार का डर नही। प्राध्यापक तो अपने काम का बादशाह होता है। तुम्हे याद नहीं, बादशाह शाहजहा ने भी सब काम छोडकर यही काम पसन्द किया था। जो कुछ तुमने पढा लिखा है उसके बल पर विद्यार्थियो पर खूब रौब जमा सकते हो—किसीकी मजाल नही कि तुम्हारी बात काट दे। और कोई काटने भी लगे तो फौरन घुडक दो। उसमे अनुशासन की कमी बताओ, उसे समाज का शत्रु सिद्ध करो, लोगो को पथभ्रष्ट करनेवाला घोषित कर दो। सब तुम्हारे पाडित्य का लोहा मान जाएगे। यही नही, प्राध्यापकी मे नेता का सा सम्मान है, अफसर की सी शान है, और लेखक का-सा अभिमान है। अरे, लेखको को तो वह खुद बनाता है। जिस विद्यार्थी पर तुम हाथ रख दोगे वही लेखक हो जाएगा। जिस दिन तुम प्राध्यापक बनोगे—समझ लो उसी दिन तुम आलोचक हो गए। तुम चाहो तो लेखको से पानी भरवा लेना। एक नया वाद चला देना। न जाने कहा-कहा तक तुम्हारी पहुच होगी, ऐसी शायद ही कोई कमेटी हो जिसके तुम मेम्बर न बनो। रुपये की तो तुम पर वर्षा होने लगेगी—पर्चे बनाने के रुपये, कापिया जाचने के रुपये, भाषण देने के रुपये, क्लास के नोटस निबन्ध की शक्ल मे छपाने के रुपये। यही नहीं तुम अपने मित्रो सम्बन्धियो को भी मालामाल कर दोगे। तुम चाहोगे तभी किसीको पुरस्कार मिलेगा, किताब चाहे जितनी अच्छी हो। तुम चाहोगे तभी कोई किताब कोर्स मे लगेगी। अनुवाद का काम भी तुमसे पूछ कर दिया जाएगा। लेखक तो रात दिन तुम्हारे सामने हाथ बाधे खड़े रहेगे। चाहो तो अभिनन्दन ग्रन्थ लिखवाना, चाहो जीवनी।

पत्र बहुत लम्बा हो गया है। मैं तो अभी और लिखना चाह रहा था, पर तुम्हारा उत्तर पाने पर लिखूगा। हो सकता है, तुम्हे मेरी बात जच जाए। तब फिर क्यो व्यर्थ ही मेहनत करू। हा, इतना जरूर कहूगा कि मैं कविता या लेखन के खिलाफ नही हू। वह तुम करते रहो। लिखने की 'हाबी' बहुत-सी हाबियो से अच्छी है। पर भैया भगवान के लिए पहले एक अच्छे से धन्धे मे जम लो, फिर कविता लिखते रहना। उसके लिए तो सारी उम्र पडी है। पर अभी से इसीमे जुट गए तो तुम्हारा भविष्य ही चौपट हो जाएगा। इसका ख्याल रखना। मैंने दुनिया देखी

है—यहा फिसड्डी का कोई साथ नही देता। साहित्य तभी तक अच्छा है जब तक उसकी सेवा करो—अगर तुमने उसे धधा बनाया तो कही के न रहोगे, यह याद रखना।

अपना निश्चय फौरन लिखना।

तुम्हारा शुभचिन्तक
चाचा

मैंने स्पेशल बस चलाई

अपनी चीजों को करीने से रखने के स्वभाव के कारण मैं घर पर भी अपने काम के कागज-पत्र दफ्तरी ढंग पर अलग-अलग फाइलों में रखता हूं। आज किसी काम से आल इंडिया रेडियो की फाइल निकाली तो उसमें अचानक इस सूची पर नजर पड़ गई 1 रामप्रकाश 1 50, 2 दामोदर दास 3 00, 1 हकीमजी 1 50, 4 हनुमान प्रसाद 6 00, 1 काशी 1 50, 1 भोलू 1 50, 1 महबूब 1 50, 1 चूड़ामणि 1 50, 2 रामचंद्र 3 00, 2 कन्हैयालाल 3 00, 1 कन्हैयालाल 1 50 1 नूर मुहम्मद 1 50, 1 छीतरमल 1 50, 2 टोडीसिंह 3 00, 2 रामप्रसाद (सामनी) 3 00, 1 छीतरमल (सामनी) 1 50।

मेरी बड़ी बच्ची पास ही खड़ी थी। इस सूची पर मुझे मुस्कराते देखकर बोली, 'पापा, यह क्या है?' मैं उसे बताने ही लगा था कि ख्याल आया यह अविस्मरणीय घटना अपने सभी मित्रों को क्यों न बता दूं।

हिन्दी साहित्य क्षेत्र से परिचय रखनेवाले सभी जानते हैं कि सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति से कुछ पहले 14, हेस्टिंग्स रोड, प्रयाग पर एक अभिनव साहित्य प्रयोग हुआ था। श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन के नेतृत्व में प्रतीक-सहकारी प्रकाशन-योजना चालू की गई थी। इसी सिलसिले में बनारस से श्री श्रीपतराय, बम्बई से श्री नेमिचन्द जैन और हाथरस से मैं आकर हेस्टिंग्स रोड, प्रयाग में रहने लगे थे। कुछ दिनों तो काम बड़ी धूमधाम से हुआ और चारों ओर इस योजना को बड़ी आशा से देखा जाने लगा पर धीरे धीरे यह पता लगने लगा कि योजना सफल नहीं हो सकी है। उसके अनेक कारण थे जिनकी चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी। बहरहाल, नवम्बर, 1947 तक सहकारी-योजना बिखर गई और मैंने दूसरा कोई उपाय न देखकर एक आवेदन-पत्र आल इंडिया रेडियो, लखनऊ के नाम

भेज दिया और उसके पकने की बाट देखने के लिए वापस हाथरस चला आया। जहा मैं प्रसिद्ध 'बिजली काटन मिल्स' के सेक्रेटरी के पद पर काम कर रहा था।

जब मैं प्रतीक-योजना मे सम्मिलित होने के लिए इस पद से मुक्त होकर गया था, तो यह मानकर गया था कि अब हाथरस लौटना नही होगा। सच तो यह है कि योजना मे शामिल होने का एक आकर्षण यह भी था कि हाथरस मे मुझे अपने अनुरूप साहित्यिक वातावरण नही मिल पाता था। मिल के मैनेजिंग डायरेक्टर श्री रामबाबू लाल कोरे मिल-मालिक न थे, मेरे घनिष्ठ मित्रो मे भी थे और अत्यन्त शिक्षित एव सुसस्कृत होने के कारण मेरी इस बात से सहानुभूति भी रखते थे। यही कारण है कि जब मैं फिर बुद्धू की तरह घर लौटकर आया तो उन्होंने मेरे इस प्रत्यायतन को लज्जा का विषय नही बनने दिया वरन ऐसा भाव प्रदर्शित किया मानो वे यह जानते रहे हो कि आखिर मे यही होना है।

फरवरी, 1948 तक रेडियो मे दी गई अर्जी रंग लाने लगी। मुझे एक औपचारिक नियुक्ति-पत्र मिल गया। मैंने जब वह पत्र श्री लाल को दिखाया तो उन्होंने हसकर उडा दिया। बात यह थी कि उसमे जो वेतन लिखा हुआ था वह उस वेतन का आधा था, जो मैं मिल मे पा रहा था। उनका यह निश्चित विश्वास था कि इतने कम वेतन मे मेरा काम नहीं चलेगा, खासतौर से इसलिए कि उन दिनो मेरे खर्च मे बिन्दु जी की कालेज शिक्षा का खर्च भी शामिल था। पर मैं हाथरस छोडने पर तुला हुआ था और मैंने रेडियो को लिख दिया कि मुझे उनकी शर्तों पर काम करना मजूर है। तय यह हुआ कि मैं अप्रैल के महीने से काम करूगा, नए सरकारी वित्त वर्ष मे।

पर मार्च महीने के आस-पास जब मैंने श्री लाल को बताया कि मैं हाथरस छोडकर जाने वाला हू तो उन्हे मेरा प्रस्ताव विशेष पसन्द न हुआ। शायद उन्होंने यह भी कहा कि जैसे प्रतीक से लौटकर आना पडा, वैसे ही मुझे रेडियो से भी लौटकर आना पडेगा। जो हो उन्होंने कोई ऐसा तात्कालिक काम भी बता दिया जिसके कारण मैं अप्रैल के अन्त के पहले

हाथरस नहीं छोड़ सकता था। हारकर मैंने रेडियो वालों को लिखा कि मैं पहली मई से काम पर आऊंगा।

लेकिन पहली मई को भी जाना न हो सका। श्री लाल एक के बाद एक जरूरी काम बताते रहे और मैं रेडियो से पन्द्रह-पन्द्रह दिन का अतिरिक्त समय मांगता रहा। यह क्रम तीन चार चला। यहां तक कि रेडियो वालों को यह संदेह होने लगा कि शायद मैं आना नहीं चाहता। उन दिनों लखनऊ रेडियो पर प्रसिद्ध कवि श्री गिरिजाकुमार माथुर भी काम कर रहे थे। उन्होंने भी एक व्यक्तिगत पत्र लिखकर मुझसे जल्दी ही निर्णय कर लेने को कहा और उसके दो एक दिन बाद ही मुझे आल इंडिया रेडियो से एक औपचारिक पत्र भी मिला जिसके मुख्य अंश का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है '12 जून 1948 के उनके पत्र के संदर्भ में श्री भारतभूषण अग्रवाल को एतद्द्वारा यह सूचित किया जाता है कि इस कार्यालय में अपनी नियुक्ति लेने की उनकी तिथि 30 जून, 1948 तक बढ़ा दी गई है। तथापि उन्हें उक्त तिथि तक निश्चित रूप से अपने पद पर आ जाना चाहिए।

अत अब और टालना सम्भव न था। जैसे तैसे श्री लाल इस बात पर राजी हुए कि मैं 29 तारीख की रात को हाथरस से चलकर 30 की सुबह लखनऊ पहुंच जाऊं और आल इंडिया रेडियो में काम ले लूं। पर हाथरस छोड़ने के कुछ घण्टों पहले तक मैं मिल का काम देखता रहा और इसलिए 29 तारीख की सुबह ही इस बात का मुझे ध्यान आया कि मुझको अपने साथ अपने चरित्र के दो ऐसे प्रमाणपत्र भी ले जाने हैं जो राजपत्रित अधिकारियों ने दिए हों।

क्योंकि सरकारी नौकरी करने का मेरा यह पहला ही अवसर था, इसलिए राजपत्रित अधिकारियों से मेरी कोई विशेष जान-पहचान न थी। मेरी जानकारी का क्षेत्र साहित्य, समाजसेवा और व्यापार ही था। उन दिनों राजकीय अधिकारी भी आज की तरह सार्वजनिक रूप से घुलमिल नहीं पाते थे। तिस पर हाथरस में तो शायद ही कोई ऐसा राजपत्रित अधिकारी हो, जिससे मैं व्यक्तिगत रूप से परिचित होऊं। मेरे परिचय के सब अधिकारी जिला-केन्द्र अलीगढ़ में थे। इसलिए मैं 29 की सुबह बस

द्वारा अलीगढ़ के लिए चल दिया, यह [illegible]
जाऊगा। लखनऊ के लिए मेरी गाड़ी [illegible]

अलीगढ़ में लगभग [illegible]
गए। प्रमाणपत्र लेकर मैं [illegible]
कि रास्ते में एक सिनेमा [illegible]
गया। मैंने आव देखा न ताव, [illegible]
अन्दर जा घुसा।

सिनेमा से छूटा तो [illegible]
आया, पर वहां [illegible]
हाथरस के लिए आखिरी [illegible]
पहले होती तो सिनेमा [illegible]
सोचा, शायद कोई [illegible]
लगभग 8 बजे [illegible]
हाथरस पहुंचकर [illegible]
जाकर [illegible]

तरह ही उनके नाम नोट करके किराया वसूल करने लगा और कोई कागज पास न होने के कारण मैंने यात्रियों का यह विवरण उसी चिट्ठी की पीठ पर लिख डाला, जो रेडियो स्टेशन से आई थी और जिसका हिंदी अनुवाद ऊपर दिया गया है। इस सस्मरण के शुरू मे वह सूची दी गई है जिससे साफ हो जाता है कि उन दिनों अलीगढ से हाथरस तक का बस भाड़ा डेढ रुपया था।

सौभाग्य से यात्री मिलते देर न हुई। ज्योंही पच्चीस यात्री पूरे हो गए, मैं फूला न समाया। दौड़कर मैनेजर से कहा कि स्पेशल का इन्तजाम कर दें, मैं पच्चीस यात्रियों का किराया देने को तैयार हू। मैनेजर साहब की हमदर्दी तो मेरे साथ थी ही, उन्होंने फौरन एक ड्राइवर को बुलाने के लिए आदमी भेजा। ड्राइवर दूर रहता था और डर था कि शायद घर पर न मिले, पर ग्रह अच्छे थे, इसलिए थोड़ी ही देर मे ड्राइवर आ गया और बस चल पड़ी। कहना न होगा कि मैं कार्यक्रम के अनुसार ही 30 तारीख की सुबह आल इंडिया रेडियो, लखनऊ के दफ्तर मे जा पहुचा।

मेरी नींद, मेरे खर्राटे

बचपन से ही मुझे बडी गहरी नीद आती है। सगे सम्बधियो और अन्तरग मित्रो मे मैं इस बात के लिए प्रसिद्ध हू कि एक बार सो जाने पर जब तक मेरी नीद खुद ही न खुले, मुझे जगाना टेढी खीर है। वैसे सुबह लगभग छ बजे मैं खुद ही जग जाता हू। सोने का समय तो मेरा विशेष निश्चित नही है कभी दस बजे भी सो जाता हू कभी देर भी हो जाती है। पर चाहे जब सोऊ सवेरे आख एक ही समय पर खुलती है, और बीच मे जागना बहुत कठिन होता है। इस सम्बन्ध मे कई ऐसी घटनाए घटी हैं, जो मुझे तो याद हैं ही, सम्बधित जन भी न भूल पाए होगे। यहा ऐसे ही कुछ प्रसग पाठको के मनोरजनार्थ अकित करता हू।

(1) बन्द दरवाजे पर दस्तकें

तब शायद मैं दर्जा चार या पाच मे पढता था। एक दिन छुट्टी के दिन दोपहर को खाना खा-पीकर मैं घर के अतरतम कमरे को भीतर से बन्द कर सो गया था। कुछ देर तो किसीने इस बात पर ध्यान न दिया, पर जब शाम हो गई और बडे भाई को कमरे मे रखी किसी चीज़ की जरूरत पडी तो उन्होने कमरा खुलवाना चाहा। पहले धीमे-धीमे और फिर जोर जोर से उन्होने बन्द दरवाजा खटखटाया, पर मेरी नीद नही टूटी। तब भाई ने परिवार के बाकी सदस्यो को भी इकट्ठा किया और सबने मिलकर उसे जोर जोर से खटखटाया और जितना दम था, उतने दम से दरवाज़े पर दस्तकें दी। लेकिन मेरी नीद खुलने का नाम ही न लेती थी। मजा यह कि कमरे म केवल एक ही खिडकी थी जो बगल की गली मे खुलती थी और गली ढालू होने के कारण खिडकी के स्थान पर इतनी नीची थी कि गली से खिडकी तक पहुचना आसान नही था। जब

किसीको और कोई उपाय न सूझा, तो दुकान से पिताजी को बुला भेजा गया। उन्होंने गली म सीढी लगाकर खिडकी पर चढकर मुझे ढेरा ही आवाज दी। पर मैं तो सो रहा था। हारकर लोहे की एक लम्बी छड लाई गई और खिडकी म डालकर उस छड से मेरे हाथ और पैर कोंचे गए, तब कहीं जाकर मेरी आखें खुली और मैंने भडभडाकर दरवाजा खोला।

परिवार की हसी से मुझ जो झेंप लगी कही उसीका तो यह परिणाम नहीं है कि अब मैं दोपहर मे कभी नही सोता।

(2) फस्ट इयर फूल की चारपाई

सन 1935 म हाईस्कूल पास करके मैं चन्दौसी के श्यामसुन्दर मैमोरियल कालेज म भर्ती हुआ और वहा के हेली होस्टल म रहने लगा। फस्ट इयर के विद्यार्थियो को छेडन-बनाने की प्रथा उन दिनो बडे जोरो पर थी। मैं क्योंकि कक्षा के अग्रणी विद्यार्थियो मे माना जाता था और मेरे अध्यापक और वाडन भी मुझे बहुत स्नेह करते थे, इसलिए दिन मे तो मैं इस छेडछाड से बचता रहा। पर एक दिन रात को मेरे साथ एसा विलक्षण मजाक किया गया कि आज तक याद है। गर्मी के दिन थे। मैं अपने कमर के सामन मैदान म चारपाई बिछाकर रोज की भाति ही सो गया। दूसरे दिन सबेरे जब आख खुली तो मैं देखता का देखता ही रह गया। न कमरे का कही पता था, न मैदान का। घबराकर चारों ओर नजर डाली तो पाया कि मैं होस्टल के शौचालय के सामन सो रहा हू और मेरे बिस्तर पर मैरो के ढेरो निशान हैं। बाद मे पता चला कि रात मे चार विद्यार्थियो ने मेरी चारपाई उठाकर शोर मचाते हुए उसका जुलूस निकाला था और पूरे होस्टल का चक्कर काटकर मुझे शौचालय के रास्ते मे छोड गए थे। वह रास्ता इतना सकरा था कि जब दूसरे विद्यार्थियो को शौच जाने की जरूरत पडी तो खाट पर चढने के अलावा और कोई उपाय न था। जिन्होने मेरे साथ यह मजाक किया था, उनका अनुमान था कि शोर-गुल स मेरी नीद टूट जाएगी और व मेरे कष्ट का मजा ले सकेंगे। पर न तो उस शोरगुल से ही मेरी आख खुली और न मेरी चारपाई के रास्ता

[illegible]
[illegible]।

(3) [illegible]

[illegible] 23 [illegible] है। [illegible] कलकत्ते मे [illegible] रोड मे [illegible] था। [illegible] के लगभग दो बजे मेरे साथ एक [illegible] जब भी रोंगटे खडे हो जाते है। मुझे [illegible] पर आ पडा। हडबडाकर मेरी आँखें [illegible]। [illegible] ज्यों ही मैं उछलकर बिस्तर से पर आ [illegible] हो। क्योंकि जिधर करवट ली थी, [illegible] बना हुआ था। दो-एक मिनट मार [illegible] कुछ दम मे दम [illegible] परिस्थिति का अध्ययन किया। देखा कि गद्दे के जितने हिस्से पर मैं [illegible] हुआ था, उतने को छोडकर [illegible] गद्दा भीतर ही भीतर [illegible] रहा है। कुछ देर तो इस [illegible] मैं सकते मे आ गया। फिर [illegible] समझ मे [illegible] मैं सिगरेट पीते-पीते ही सोया था और शायद सिगरेट [illegible] ही मुझे नीद आ गई। जलती सिगरेट गद्दे पर गिर [illegible] म आग लग गई। धीरे धीरे वह आग भीतर ही भीतर [illegible] गई, पर उसका जो हिस्सा मेरे बोझ से दबा हुआ था, [illegible] नीद म ही मेरा हाथ अपने आप जब गद्दे के दूसरे [illegible] का स्पर्श पाकर मेरी आख खुल गई। [illegible] बाद मेरी घबराहट दूर हो गई। मैं [illegible] को लपटकर बाहर डाल आया और [illegible] को मैंने यह घटना सुबह उठने पर ही [illegible]।

रखा था। उसमे सामने की ओर तीन कमरे थे जिनका बरामदा सडक पर खुलता था। नीचे के तल्ले मे कुछ दुकानें थी और जिस कमरे मे मैं सोता था, उसके ठीक नीचे बीडी बनाने वाले की दूकान थी। बीच का कमरा हमने ड्राइगरूम बना रखा था और क्योकि उसमे दो चार कुर्सियो और तखत के अलावा और कोई सामान न था, इसलिए रात मे उस बन्द नही करता था। एक दिन सबेरे जब मैं सोकर उठा और ड्राइगरूम मे आया तो देखकर दग रह गया कि सारे कमरे मे और बाहर के बरामदे मे पैरो के अनगिनती निशान हैं मानो रात को चोरो का कोई दल वहा आया हो। पर कमरे की कोई चीज गायब न थी। सच तो यह है कि वहा गायब होने लायक कोई चीज थी ही नही। असमजस मे पडकर मैंने दूसरे तल्ले मे रहने वाले मारवाडी सज्जन को बुलाया और उन्हे आश्चर्य और भय से वे पैरो के निशान दिखाए। पर वे सज्जन मेरे भय मे भाग लेने की बजाय मजे से मुस्कराते रहे और बोले, 'मान गए आपकी नीद को।'

धीरे धीरे पूरा विवरण ज्ञात हुआ। रात को लगभग दो बजे बीडी की दूकान मे आग लग गई थी, जिसे बुझाने के लिए दो फायर इजन लगभग आध घण्टे तक वहा शोर मचाते रहे। सारी हवेली मे रहने वाले लोग डरकर मेरे ड्राइगरूम मे जमा हो गए थे और वही से आग की लपटें और उनका बुझाना देखते रहे थे। पर मैं तो ऐसा सोया था कि मुझे इसकी कोई भनक भी न थी।

(5) मेरे खर्राटे और माथुर साहब

सन् '57 में मेरा ट्रासफर आकाशवाणी भोपाल मे हुआ। यह केन्द्र नया ही खुला था। भोपाल को मध्य प्रदेश की राजधानी बने कुछ ही दिन हुए थे और वहा घर मिलना प्राय असम्भव था। जिस दिन मैं अपना सामान लेकर आकाशवाणी पहुचा, तो केन्द्र के अध्यक्ष और मेरे अभिन्न मित्र श्री गिरिजाकुमार माथुर ने बडी खुशी से मुझे यह इजाजत दे दी कि मैं दो एक दिन उन्हीके साथ रह लू। वे भी उन दिनो अकेले थे। रात को खाना-पीना खत्म करके हम लोग गप्पा मे लग गए। बरसो के अन्तराल के बाद यह भेंट हुई थी, इसलिए कहने-सुनने को ढेरो बातें थी। कब

बारह बज गए इसका पता भी न चला। घड़ी देखी तो मैं चौंक उठा और बोला, 'माथुर साहब, अब आप सो जाइए।' पर माथुर साहब उस दिन मूड मे थे और बातें ही करते रहे। जब मैंने कई बार उनसे सो जाने का आग्रह किया तो वे बोले, 'तुम्हे नीद लगी है तो तुम सो जाओ।' पर मैं चाहता था कि पहले वह सो जाए तब मैं सोऊ। उन्होने मेरे इस आग्रह को गलती से अपने अफसर के प्रति विनम्रता समझा और क्योकि वे मुझे मित्र मानते थे, इसलिए प्राय विवश करके मुझीको पहले सोने पर बाध्य किया।

सवेरे लगभग चार बजे अचानक मेरी आखें खुली। मैंने देखा कि माथुर साहब मेरी खाट के पास खडे बडी जोर-जोर से हिलाकर मुझे जगा रहे हैं। अब मैं आखें मलते हुए उठा तो माथुर साहब बोले, 'भारत जी, आप तो काफी सो लिए, अब आप कृपा करके अगर दूसरे कमरे मे चले जाए तो घण्टे-दो घण्टे मैं भी सो लू।' बात यह थी कि मैं सोते मे इतना जोर जोर से खर्राटे लेता हू कि इस कमरे मे तो क्या, आसपास के कमरे मे सोने वाले भी जग जाए। यह बात मुझे मालूम थी, इसीलिए मैं बराबर आग्रह कर रहा था कि माथुर साहब पहले सो जाए। पर उन्होंने मेरी बात नही मानी और उसका फल भागा। मेरे खर्राटा के कारण वह एक क्षण को भी न सो पाए। कहना न होगा कि दूसरे ही दिन उन्होंने मेरे सोने की अन्यत्र व्यवस्था कर दी।

शास्त्री जी की पहली झांकी

'आप तो ऐसे कह रहे हैं मानो उन्हें पहले से जानते हों', मित्र बोले, 'आखिर आपकी इस धारणा का कोई आधार भी होगा ही।'

तब की बात है जब श्री लालबहादुर शास्त्री ने भारत के प्रधानमंत्री का पद सम्भाला ही था। एक दिन बातचीत के दौरान मैं अपने एक मित्र से बोला कि शास्त्री जी अत्यन्त सफल प्रधानमंत्री सिद्ध होंगे। उन दिनों स्व० जवाहरलाल नेहरू के भव्य और महान व्यक्तित्व ने सारे देशवासियों के मन में इतना अविचल स्थान बना रखा था कि ऐसी कोई भी बात मानो मन को स्वीकार नहीं होती थी। इसीलिए मित्र की वह शंका सहज ही थी। मैं अपनी बात पर तो अड़ा रहा, पर प्रमाण कोई प्रस्तुत नहीं कर पाया क्योंकि शास्त्री जी को व्यक्तिगत रूप से तो मैंने कभी जाना ही नहीं और सार्वजनिक जीवन में उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि से जितना मैं परिचित था उतने ही मित्र भी थे। अतएव मैं उन्हें आश्वस्त नहीं कर पाया।

बात तो वहीं खत्म हो गई पर मित्र का अन्तिम प्रश्न मेरे मन में बराबर गूंजता रहा। हां, आखिर कोई न कोई कारण तो होगा ही, जिसके बल पर मेरा मन यह भविष्यवाणी करता है। शास्त्री जी की लगन, सादगी और उदारता मेल भावना—ये सब तो ठीक हैं। पर क्या इनके तल में और भी कुछ ऐसा है जिसपर मेरी धारणा टिकी हो।

दिन निकलते गए पर मन में यह कुरेद मची ही रही और तब अचानक एक दिन मानो कोई द्वार खुला, अन्तर्मन के विस्मृत कोने से एक छोटी-सी घटना याद आई।

सन् '47 के दिन थे। देश को आजाद हुए अभी कुछ ही महीने बीते थे, विभाजन की विभीषिका और शरणार्थियों की समस्या के कारण सारे

देश मे अशान्ति, विक्षोभ और विफलता का-सा वातावरण था। मैं 'प्रतीक' की सहकारी-योजना के एक सदस्य के रूप मे प्रयाग मे था। उन्ही दिनो प्रयाग की एक सार्वजनिक सभा मे भाषण करने के लिए उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री स्व० प० गोविन्दवल्लभ पन्त पधारे। सभा का आयोजन नगर कांग्रेस कमेटी की ओर से हुआ था जिसके प्रमुख थे प० विश्वम्भर नाथ पाण्डे।

रात के लगभग आठ बजे सभा शुरू हुई। शुरू तो हो गई पर शुरू हो नही पाई। मैदान मे अनगिनती लोग जमा थे। पर उनमे कुछ ऐसे भी थे जिनमे साम्प्रदायिक रोष उस समय उभार पर था। ज्यो ही प० गोविन्दवल्लभ पन्त भाषण करने के लिए उठे त्यो ही इन विक्षुब्ध लोगो ने विरोधी नारे लगाने शुरू किए। दो एक मिनट पन्त जी शान्त रहे। फिर उन्होने विरोधियो को शान्त करने के लिए कुछ तसल्ली देने वाले वाक्य कहे, पर नारे अबाध गति से लगते रहे। प्रयाग की जनता का अपने मुख्यमंत्री के प्रति यह व्यवहार पाण्डे जी को नगर के लिए अशोभनीय लगा। वे खडे हो गए, माइक अपने हाथ मे ले लिया और उन्होने बड़ी ओजस्वी स्वरो मे प्रयागवासियो को उनकी सांस्कृतिक परम्परा की याद दिलाई उनके कर्तव्यो का ध्यान दिलाया और कहा कि इस सभा मे हो सकता है कि दो चार लोग ऐसे हो, जो पन्त जी की बात न सुनना चाहते हो, वे इस समय नारे लगाकर शोर कर रहे हैं और बाधा [illegible] रहे है। पर सभा मे उपस्थित अधिकाश जन तो ऐसे ही हैं जो पन्त जी की बात सुनना चाहते हैं। मैं उनसे अपील करता हू कि वे मेरे साथ नारे लगाए और तब उन्होने नारा दिया 'पन्त जी की बात [illegible]!' आज मुझे कुछ ऐसा ही स्मरण है कि लगभग पन्द्रह मिनट [illegible] यह नारा लगाते रहे और सारी सभा उनके साथ [illegible] कि पन्त जी की बात सुनी जाएगी। फल यह हुआ कि [illegible] होकर शान्त हो गए और पन्त जी का भाषण [illegible] हुआ।

सभा समाप्त हो जाने पर जब [illegible] रेलवे पुल के नीचे से गुजर रही थी, [illegible] रास्ता रोक लिया और कार का आगे [illegible]।

रूप म मै भी पास ही उपस्थित था। प्रदशनकारी पत जी को आगे बढन नही देना चाहते थे। कई लोगो ने उन्हे समझाने की कोशिश की, पर वे अपनी ही बात पर अडे रहे। जहा मोटर खडी थी वहा प्रकाश अधिक नही था और इसलिए मैं ठीक से तो नही देख सका कि क्या हुआ, पर इतना जरूर दिखाई दिया कि कार की अगली सीट से एक छोटा-सा व्यक्ति प्रकट हुआ और कार के हुड पर पैर रख कर कार की छत पर खडा हो गया। उसने वहुत ही सधे हुए शात स्वरो मे दो चार वाक्य कहे जिनका प्रदशनकारियो पर जादू का-सा असर हुआ। भीड तुरत छट गई और कार को रास्ता दे दिया गया। बाद में किसीने बताया कि वह छोटा सा व्यक्ति और कोई नही, मुख्यमत्री के ससदीय सचिव श्री लालबहादुर शास्त्री थे।

यह घटना याद आते ही मेरी समझ मे आ गया कि मैंने अपन मित्र से शास्त्री जी के सम्बन्ध मे जो बात कही थी, उसका आधार क्या था।

एक (अ) पाठ्य-पुस्तक की कथा

प्रिय सम्पादक जी,

आपके पत्र की निर्भीकता और सत्यनिष्ठा का मैं शुरू से ही प्रशंसक रहा हूं। इसीलिए आशा कर रहा हूं कि आप मेरे निवेदन पर उचित विचार और कारवाई करने की कृपा करेंगे। आज सवेरे मेरे बेटे ने (जो हायर सेकेंडरी स्कूल का विद्यार्थी है) मुझसे अपनी हिन्दी पाठ्य पुस्तक की एक पंक्ति का अर्थ पूछा। मैंने जब पुस्तक उलटी पलटी तो मैं दंग रह गया। उसमें रच्चन जी (विधुशाला के विख्यात कवि) के नाम से एक ऐसी कविता छपी है जो न तो किसी काव्य-गुण से विभूषित है और न विद्यार्थियों के उपयुक्त ही है। ऐसी कविता स्कूली पाठ्य-पुस्तक में कैसे स्थान पा गई, यह मेरे लिए अत्यन्त विस्मय और क्षोभ का विषय है। आप स्वयं पारखी हैं और कहीं कहीं कवि भी माने जाते हैं, मुझे पूरा भरोसा है कि आप इससे सहमत होंगे कि यह कविता किसी भी प्रकार पाठन के योग्य नहीं है। यह ठीक है कि रच्चन जी प्रेम के कवि हैं (विधुशाला से पहले विधुशाला भी वह लिख चुके हैं) और उन्होंने अनेक ऐसी प्रेम-कविताएं लिखी हैं जो भावना एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। पर यह कविता उनसे नितान्त भिन्न है। इसकी स्थूल और कसरती भावना भारतीय आदर्शों से तनिक भी मेल नहीं खाती। मुझे तो यह भी लगता है कि शायद यह कविता उन 'जी' की रचना ही न हो। खैर, कवि को तो सभी कुछ लिखने का अधिकार होता है, अतः इस विषय में अधिक नहीं कहूंगा। पर इस कविता को पाठ्य-पुस्तक में किस आधार पर स्थान दिया गया है, यह विचारणीय है। जहां तक मैं जानता हूं, पाठ्य पुस्तकों के निर्वाचन के लिए विश्वसनीय विशेषज्ञों और विद्वानों की समिति नियुक्त की जाती है। क्या ये विद्वान इसी प्रकार अपना दायित्व

निबाहते हैं ? यदि विद्वानो का यही हाल रहा तो हमारी शिक्षा की स्थिति कितनी शोचनीय हो जाएगी, यह भी विचारणीय है। मैं इस पत्र के साथ उक्त कविता की एक प्रतिलिपि भेज रहा हू। पुस्तक की प्रति भी भेज देता पर उससे मेरे बेटे की पढाई का हर्जा हो जाएगा। आप चाहें तो पुस्तक किसी भी बुकसैलर से ले सकते है। मेरा अनुरोध है कि आप इस सम्ब ध मे पूरी पूरी जाच करें और इस भयानक स्थिति की ओर अधिकारियो का ध्यान आकर्षित करें। कृपा होगी। इति

—सम्पातीलाल कोडा

नगर सवाददाता के नाम सम्पादकीय टीप

साथ का श्री सम्पातीलाल कोडा का पत्र देखें। मैंने पुस्तक देख ली है। उनका कथन सही है। (दे० प० 108)। शिक्षा वोर्ड के अधिकारियो से मिलकर मामले की जाच कराए और अगले अक के लिए पूरी रिपोट दें।

(हस्ताक्षर) अपठनीय
प्रधान सम्पादक

नगर सवाददाता की रिपोट

आज अपराह्न शिक्षा निदेशक से मिला। व दक्षिणी हैं हिन्दी नहीं जानते। उन्होने कहा कि रच्चन जी प्रसिद्ध कवि उनकी सभी रचनाए पठनीय। फिर पाठ्यक्रम म लेन मे क्या आपत्ति ? पर मैंने कविता का आशय समझाया, मौलिकता के सम्बन्ध मे सन्देह भी व्यक्त किया तो वे मामले की पडताल को तैयार हुए। आश्वासन दिया कि शीघ्र आपको पूरे तथ्यो की जानकारी देंगे।

23 2 66

(हस्ताक्षर) अपठनीय
नगर सवाददाता

प्रिय डाक्टर साहब

आज साप्ताहिक समाचार के नगर सवाददाता मुझसे मिलने आए

थे। उन्होंने बताया कि इस वर्ष हमारे पाठ्यक्रम में पद्य-पाद-पद्य पीठिका नामक जो पुस्तक स्वीकार की गई है उसमें डा० रच्चन की एक ऐसी कविता दी गई है जो विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त नहीं है। मैं तो हिन्दी पढ़ता नहीं, पर यदि इस कविता का वही अर्थ है जो संवाददाता ने मुझे बताया तो यह बड़ी चिन्ता का विषय है। आप निर्वाचन-समिति के संयोजक हैं, आपने यह कविता अवश्य देखी होगी। कृपया बताएं कि शिकायत में कोई सार है कि नहीं। मैं व्यग्रता से आपके उत्तर की प्रतीक्षा करूंगा।

भवदीय
(हस्ताक्षर) अपठनीय
शिक्षा निदेशक

सेवा में,
डा० नक्षत्रसिंह

प्रिय भाई बनबहादुर

अभी-अभी शिक्षा निदेशक के पास से एक पत्र मिला है जो साथ नत्थी है। तुमने तो मुझे कहीं का न रखा। तुमने मुझे पक्का आश्वासन दिया था कि पुस्तक वास्तव में तुम्हीने सम्पादित की है, सिर्फ बोर्ड का सदस्य होने के कारण उसपर किसी दूसरे का नाम दिया है। इसी पर मैंने पद्य-पाद पद्य-पीठिका पाठ्यक्रम में स्वीकृत कराई थी। पर उसमें ऐसी ऊल-जलूल कविता कहां से आ गई? मैंने रच्चन जी की इधर की रचनाएं तो नहीं पढ़ी, पर यह उनकी हो भी तो भी तुमने इस पुस्तक में क्यों शामिल की? अब मैं शिक्षा निदेशक को क्या मुंह दिखाऊंगा? अब जल्दी से कोई उपाय सोचो वरना तुम्हारी सदस्यता और मेरा संयोजकत्व दोनों खतरे में हैं।

(हस्ताक्षर) नक्षत्रसिंह

श्री बनबहादुर बग

प्रिय लालताप्रसाद जी,

आप भी अच्छे प्रकाशक हैं! मैंने आपको ठोक ठाककर समझा दिया

था कि आप पद्य-पाद पद्य-पीठिका के सकलन का काम किसी ऐसे आदमी को सौंपिएगा जिसे हिन्दी साहित्य का अच्छा ज्ञान हो और जो छात्रोपयोगी कविताओं का सही चुनाव कर सके। इसी भरोसे मैंने आप की पुस्तक बिना पढ़े ही मजूर करवा दी थी। अब उसमे ऐसी गलती निकली है कि मेरा मुह काला हो गया है। जिस उल्लू से आपने यह सग्रह तैयार करवाया है उसे फौरन मेरे पास भेजें। उसे यह भी कह दें कि वह अपने साथ वह पुस्तक भी ले आए जिसमे से उसने यह कविता चुनी। न मालूम उसका दिमाग कहा चरने चला गया था कि बच्चन जी की हजारो कविताए छोडकर वह गोबर चुन लिया। क्या इसी काम के लिए आपने उसे मेरे हिसाब से पाच सौ रुपये काट कर दिए थे ? उसे आज शाम तक जरूर मेरे पास भेज दें।

(हस्ताक्षर) बमबहादुर बग

श्री लालताप्रसाद,
प्रकाशक।
राष्ट्र-स्वयसेवी बुकहाउस
आदरणीय बग साहब,

आपने राष्ट्र-स्वयसेवी बुक-हाउस के लालताप्रसाद जी का जो पत्र लिखा है वह मैंने देखा। आपके आदेशानुसार मैं अवश्य आपकी सेवा मे उपस्थित होता, पर आज की रात तक मुझे उनके लिए दूसरे प्रादेशिक पाठ्यक्रम के लिए एक सग्रह तैयार कर देना है, अत विवश हू। पर आपने अपने पत्र मे मेरे लिए जो वाक्य लिखे हैं वे आप जैसे सम्माननीय और जिम्मेदार व्यक्ति के लिए शोभा नही देते। आपको पता होना चाहिए कि उल्लू काव्य-सग्रह तैयार नही कर सकता, उसे पास चाहे करवा लें। जिस कविता पर आपने इतनी बातें कह दी हैं वह 'पिचकारी' के 'पैरोडी-अक' मे छपी है। मैंने आपका पत्र पढकर उससे फिर मिलान कर लिया है। कविता बिल्कुल सही छपी है। फिर भी उसकी एक टू कापी साथ भेज रहा हू।

(हस्ताक्षर) अशर्फीलाल

पुनश्च हाँ, आपको यह बताना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि मुझे सारंगा जी से दो सौ रुपये मिले थे, पाँच सौ नहीं।



(सारा पत्र-व्यवहार परिस्थिति को इतने स्पष्ट रूप में सामने ले आता है कि कविता को यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है। —म०)

एक सलापहीन स्थिति

दिल्ली दूर है यह कहावत करीब करीब उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी कि खुद दिल्ली। हम यह भी कह सकते है कि आज यह कहावत ज्यादा है सत्य कम, क्योंकि इसमे सामन्तयुगीन राजा और प्रजा की दो दूरी व्यजित है वह आज के जनतान्त्रिक युग मे विलुप्त हो गई है और न भी हो गई हो तो वैज्ञानिक साधना के कारण सहज ही वश मे हो जाती है। आज के युग म तो बल्कि यही कहना ज्यादा सही होगा कि दिल्ली निरतर पास आती जा रही है क्योंकि राजधानी बडे प्रबल वेग से नाना रूपो मे देश के कोने कोने से लोगो को कच्चे धागे म बाधकर ले आती है।

पर इस कहावत का एक नया व्यग्यार्थ धीरे धीरे मुझे उपलब्ध होने लग गया है। दिल्ली दूर है और आज भी है औरो से उतनी नही जितनी स्वय अपने से। राजधानी मे आकर बसने वाला व्यक्ति यहा की जीवन-पद्धति और व्यवस्था से दमित होकर चकित रह जाता है। आखिर दिल्ली है क्या ! निर्जन विस्तारो से जुडी हुई छोटी छोटी बस्तिया मिलकर दिल्ली बनती है जिनके बीच मे सम्पर्क के दो ही साधन हैं, या तो रईसी की कारें या फिर डी० टी० यू० की गुदार बसें। लगता है मानो इस विभाजन मे अग्रेजी हिन्दी की सी ही दूरी है और ये साधन पारस्परिक सम्पर्क के लिए नितान्त असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

यो तो यह दूरी जीवन के सभी क्षेत्रो मे अपना रग दिखाती है, पर साहित्य म तो यह कुछ इतनी विचित्र लगती है कि साहित्य शब्द ही निरर्थक हो जाता है। दिल्ली मे साहित्यकारो की कोई कमी नही है। हिन्दी के साहित्यकारो की तो यहा काफी बडी सख्या है तिस पर नित नए साहित्यकारो की आमद भी होती रहती है। इतने साहित्यकार जिस नगर म हो, वहा साहित्य गत सलाप विरल और विविक्त हो तो मन कुठित होने

को मजबूर हो जाता है। ऐसी बात नही है कि मिलकर बैठने के अवसर नही आते या चेष्टा नही की जाती। पर महीन मे पाचवें रविवार की भांति आने वाले ये अवसर कोई स्थायी स्वरूप नही दे पाते और इसी उपमा को चरितार्थ करते है कि

टाइपराइटर की 'की' की तरह
सबके पैर एक जगह पडते है
और फिर
तुरत बिखर जाते हैं।

वैसे यह बात दूर की कौडी हो, ऐसा नही। दो-चार दिन के अनुभव से ही पकड मे आ जाती है। पर कष्ट तब होता है, जब इसके निराकरण का कोई उपाय उपलब्ध नही होता। राजधानी की यह विशेषता है कि भारत के सबसे बडे नगरो म होने पर भी यह एक उद्योगहीन नगरी है। फलत यहा के प्रवासी निवासियो की जडें गहरी नही हैं। भीड है, पर लोगो मे आपसी सम्ब ध का कोई जीवन्त सूत्र नही है। या भी तेजी से फैलती जाने वाली यन्त्र प्रणाली हर एक व्यक्ति को छोटे-छोटे दायरो मे ब द करन लग जाती है। तिस पर यहा की दूरी धीरे-धीरे मन म भी दूरिया गढने लगती है। सहज भाव से मिलन छोट छोटे दायरो मे ही होता है और य दायरे धीरे धीरे निकाया का रूप लेन लगते हैं मनमाने सिद्धान्तो के बल पर मनमानी व्याख्या करने लग जाते हैं। समग्र दृष्टि के प्रयत्न कष्टसाध्य होन के कारण पहले तो विवशता की दीवार से टकराते रहते है और बाद मे जब एक सकीण दायरा अपनी जडें जमा लेता है, तो फिर वे अनधिकृत प्रवेश जैसे लगने लगते है।

इस तरह दैनिक स्तर पर दिल्ली टुकडो म बटी रहती है और टुकडा मे ही सोचती है। मेले-ठेला की तरह कभी-कभी एसे उत्सव भी होत है, जब दूर दूर से भी साहित्यकार आकर एक जगह मिलते बैठत है, पर इन उत्सवो का क्षणिक और सतही रूप इतना विकट होता है कि उसमे सलाप की किसी स्थिति की कल्पना करना भी असम्भव लगता है। य उत्सव अधिकाश मे तीन प्रयोजना से होते हैं अभिनन्दन-समारोह, शोक-सभा या ग्रथ विमोचन। और य तीना ही अवसर ऐसी औपचारिकता से भरे

रहते हैं, कि तत्व की चर्चा दूर ही रहती है और तब सचमुच बड़ी गहरी निराशा होती है जब कुछ संस्थाएं ऐसे समारोहों में धन, श्रम और समय खर्च करके साहित्य-सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान लेती हैं, क्योंकि इन समारोहों का रूप अनिवार्यतः भाषण-पर्व का सा होता है। कुछ विशिष्ट लोग ऊंचे मंच पर बैठ जाते हैं और बाकी साहित्यार्थी नीचे श्रोता बनकर दूरी का धर्म निभाते रहते हैं। अक्सर तो इन समारोहों का विचार बहुत देर से सूझता है और इसलिए ठीक से कोई तैयारी भी नहीं हो पाती। मेरी जानकारी में ऐसे मौके भी आए हैं जब समारोह के संयोजकों को भी यह पता नहीं था कि वे समारोह के संयोजक हैं और संयोजकों में शामिल होने की बात का पता उन्हें निमंत्रण-पत्र के माध्यम से ही मालूम पड़ा। फल यह होता है कि ये समारोह भगवान भरोसे होते हैं और मनमाना रूप ले बैठते हैं। उदाहरण के लिए, अभिनंदन-समारोह में वक्ता यह कहते भी पाए गए हैं कि जिनका अभिनंदन किया जा रहा है, मैंने उनकी रचनाएं नहीं पढ़ी या यह कि अभिनंदन-समारोह का खर्च उन लेखक महोदय को देना चाहिए जिनका अभिनंदन किया जा रहा है। इसी प्रकार एक पुस्तक के ग्रंथ विमोचन समारोह में वक्ता यह भी कहते मिले हैं कि, 'मैंने यह ग्रंथ पढ़ा तो नहीं है परन्तु आदि। इन समारोहों की निपट औपचारिकता अब कुछ इतनी प्रकट हो गई है कि शायद वह खटकनी भी बंद हो गई है और दिल्ली निवासी सभी लेखक मानो उनके इस रूप को सहज स्वाभाविक मान चुके हैं। यह गम्भीर चिन्ता का विषय है, क्योंकि जब रोग का अभिज्ञान भी मिट जाए, तब उसका उपचार सबसे कठिन हो जाता है। इसी प्रवृत्ति का यह फल है कि महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण प्रसंगों और उत्तम से उत्तम ग्रंथों से सम्बन्धित होने पर भी ये समारोह साहित्यिक स्तर पर कोई संगति प्राप्त नहीं कर पाते और उनकी संस्था अथवा उनमें भाग लेने वाले साहित्यकारों-कलाकारों की सदिच्छा विफल हो जाती है। अब तो सब सम्बन्धित व्यक्ति इन समारोहों के असली उद्देश्य की उपेक्षा करके उन्हें केवल दर्शन-लाभ और मेल मुलाकात का अवसर मानकर तदनुरूप व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार दिल्ली में कोई व्यापक साहित्यिक वातावरण नहीं मिलता।

सतत प्रवाहित चेतना धारा की जगह छोटे-छोटे तालाबो और पोखरा ने ले ली है, जो कुछ मनोरजन गहो, कुछ साहित्यिक प्रतिष्ठानो और कुछ उपनिवेशो के रूप मे अपने-अपने सीमित क्षेत्र मे ही हल्की-हल्की लहरें उठाते रहते हैं और सो भी तब जब कोई बाहरी आधी या तूफान उनमे हलचल उत्पन्न करता है। यह सलापहीन स्थिति कितनी दु खद है, इसका अनुभव दिल्ली मे बसकर ही किया जा सकता है। वैसे इसकी कुछ बानगी उन साहित्य-प्रेमियो को भी मिल जाती है जो नाना सूत्रो से बधे राजधानी मे खिचे चले आते हैं और दो चार दिन मे यहा के निवासी साहित्यकारो से मिलने और विचार-विनिमय करने की असम्भव चेष्टा करते है।

लेखक और लक्ष्मी

मैं काफी छोटा था तभी सुन लिया था कि लक्ष्मी और सरस्वती मे बैर है। यह भी सुना था कि जो लोग सरस्वती की आराधना करते है, लक्ष्मी उनसे प्रसन्न नही रहती। तब इसके प्रमाण भी चारो ओर बिखरे पडे थे। मैं देखता था कि जो पढते-पढाते या लिखते लिखाते हैं वे धनी नही हैं और जो धनी हैं, वे लक्ष्मी की पूजा मे इतने डूबे रहते हैं कि पढने लिखने से उन्ह कोई वास्ता नही है। पर यह बात क्या वास्तव म सच है? अगर सच है ही, तो लेखक जो अपनी रचनाओ द्वारा हमे अपनी विद्वता से परिचित कराता है, इस बात म इतना मूख क्यो है कि जान-बूझकर गरीबी का रास्ता चुनता है।

मैं सोचता हू कि यह सवाल हममे से बहुतेरे लोगो के मन मे कभी न कभी उठने लगता है। वैसे, ऐसे भी लेखक होते हैं जिन पर लक्ष्मी की कृपा रहती है। उनमे से कुछ तो लक्ष्मी की गोद म ही पैदा होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्होंने सरस्वती की साधना के साथ-साथ लक्ष्मी का वरदान भी पाया है। पर यह देखने की बात है कि ससार के प्रसिद्ध लेखको म पाच दस भी ऐसे नही निकलेंगे जिनका जीवन आर्थिक रूप स सम्पन्न माना जा सके। इसलिए अपवादो को अगर छोड दें तो यह प्रश्न ज्यो-का-त्यो बना रहता है कि सरस्वती की साधना हमे लक्ष्मी के वरदान स वचित क्या कर देती है।

प्रेमचन्द का उदाहरण हमारे सामने है। हम सब जानत हैं कि आज उनकी रचनाओ की रॉयल्टी उनके उत्तराधिकारियो को काफी मिल रही है। जब प्रेमचन्द जीवित थे तो इन्ही रचनाओ के लिए हम उन्हें इतना भी न दे पाए कि वे साधारण जीवन भी बिता सकत। शायद इसका उत्तर यह दिया जाय कि उन दिनो देश खुद ही गरीब था और अपने मूर्धन्य

लेखक की भी आजीविका न जुटा सकता था। बात मानने लायक लगती है। पर आज भी जो लेखक सच्चे रूप मे एकाग्र रूप से सरस्वती की साधना मे लगे हुए हैं, वे अर्थाभाव से पीडित हैं। रांगेय राघव का नाम पाठको के लिए अपरिचित नहीं है। 39 वर्ष की अल्पायु मे ही उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। उनकी इतनी शीघ्र विदाई मे अर्थ-सकट का बहुत बडा हाथ था। कॉलिज के दिनो मे ही जिसने अपने मन को कलम की नोक पर रख दिया हो और जो निरन्तर जीवन की और सब उलझनो से ऊपर उठकर साहित्य रचना मे पल-पल लगा रहा, वह अपने इलाज के लिए दवा नही जुटा पाया। रांगेय राघव ने साहित्य का शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिस पर न लिखा हो। उपन्यासों से लेकर अनुवाद तक उनकी रचनाओं मे शामिल है। 39 वर्ष की आयु में 150 ग्रथो की रचना अपने आपमे चमत्कार है। फिर भी लक्ष्मी ने कृपा नहीं की।

धन के अभाव से बचने का जो दूसरा रास्ता लेखकों ने निकाला है, वह है अपनी आवश्यकताओं मे कमी कर देना। छायावादी युग मे यह रास्ता विशेष रूप से प्रचलित था, यद्यपि बहुत-से लेखक आज भी इसे अपनाते हैं। इस रास्ते पर चलने वाला लेखक सबसे पहले गृहस्थी बसाने से इनकार कर देता है। वह आजीवन अविवाहित रहता है। इस तरह वह अपनी आवश्यकताओं को बहुत घटा लेता है। उसे पत्नी अथवा बच्चों के निर्वाह की और विकास की चिन्ता नही होती। किसी तरह अपना पेट भर जाए तो काम चल सकता है। पर इस तरह लेखक धन के अभाव से थोडी-बहुत रक्षा भले ही पा जाता हो, उसके लेखन मे एक गहरी कमी आ जाती है। बात दरअसल यह है कि हम गृहस्थी के माध्यम से ही समाज, राष्ट्र और विश्व से सम्बन्ध बना पाते हैं। गृहस्थी को छोडकर जब लेखक अकेला एक इकाई बना फिरता है तो उसके व्यक्तित्व मे उन सूत्रो का अभाव हो जाता है जो उसको समाज से और उसके जीवन को यथार्थ से बाधता है। धीरे धीरे वह जीवन की यथार्थता से इतना दूर हो जाता है कि एक ओर उसका व्यक्तित्व अपने आपमे बन्द घुटन का अनुभव करने लगता है। दूसरी ओर, जीवन की वास्तविक समस्याए उसे सही रूप म

दिखाई ही नही देती। गृहस्थी को त्याग कर सन्यासी तो बना जा सकता है क्योंकि सन्यासी को सबकी मुक्ति की चिन्ता नही होती, केवल अपनी मुक्ति की ही चिन्ता होती है। पर सन्यास लेकर साहित्य रचना ठीक ढंग से नही की जा सकती क्योंकि साहित्य अपनी मुक्ति के लिए नही, सबकी मुक्ति के लिए रचा जाता है और ऐसे समूहोन एकाकी लेखक का साहित्य सबकी समस्याओं से कटकर अधूरा और एकांगी हो जाता है।

ऐसे उदाहरण अनेक हैं पर उनकी चर्चा की आवश्यकता नही है, क्योंकि यह मान लेने मे किसीको कठिनाई नही होगी कि लेखक किसी न किसी कारण से सदैव ही धन के अभाव से त्रस्त रहता है। यह त्रास कितना भयकर होता है। इसका कुछ अदाज हम इस बात से कर सकते है कि जितने लोग कॉलिज के दिनो मे साहित्य रचना की ओर झुकते हैं, उनमे से शायद पाच या दस प्रतिशत ही आगे चलकर साहित्य की रचना करते हैं। बाकी लोग उस रास्ते को काटे की राह समझकर छोड देते हैं।

ऐसे लेखको की भी कमी नही है जो एक आख साहित्य रचना पर रखते है और दूसरी आर्थिक लाभ पर। ऐसे लेखको की रचना मे एक गिरावट आ जाती है। वे रोचक और लोकप्रिय तो होती हैं पर सच्चे अर्थों म साहित्य नही बन पाती। आज के व्यावसायिक समाज म ऐसी रचनाओं की धूम है। ऐसा साहित्य हमारे हीन भावो को और हमारी वासनाओं को कुछ देर के लिए सहलाता है बाद मे कूडे मे फेंक दिया जाता है।

अर्थ के अभाव से बचने के लिए आज के लेखक ने एक दो रास्ते भी अपनाए है। अक्सर वह साहित्य रचना के साथ साथ अपने जीवन म कुछ ऐसा काम भी करता चलता है जो उस आर्थिक सकट से चाहे मुक्ति न भी दे, पर राहत तो दे ही दे। आज के जमाने म यह काम ज्यादातर नौकरी ही होता है। हिन्दी के लगभग 90 प्रतिशत लेखक किसी न किसी प्रकार की नौकरी करते हैं। इनमे सरकारी कर्मचारी पत्र-पत्रिकाओ म काम करने वाले, व्यावसायिक फर्मों के नौकर, फिल्म और रेडियो के कलाकार आदि हैं। पर यह बडे मार्के की बात है कि इनमे से 90 प्रतिशत लेखको की रचनाओं मे वह गरिमा और उदात्तता नही मिलती जो सच्चे और महान्

लेखक मे होती है। इस बारे म कभी विचार नही किया गया है पर यह बात गलत नही लगती कि उनकी रचना का घटियापन किसी न किसी रूप मे उनकी जीविका की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है। यो भी यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि जब मन एक साथ दो नावो पर पैर रखकर चलन की कोशिश करता है तब उसका डगमगाना स्वाभाविक ही है। इसलिए जो लेखक अर्थ के सकट से बचने के लिए अपने जीवन के कुछ क्षण लक्ष्मी के चरणा म अर्पित करने का निश्चय करते है, उनकी हालत भी अच्छी नही दिखाई पडती।

सोवियत सघ म लखक को उसके जीवनकाल मे ही यथासभव सारी सुविधाए और सम्मान प्रदान किए जाते हैं। यहा तक कि उनके निवास और स्वास्थ्य पर वसा ही ध्यान दिया जाता है जैसा हमार दश म केवल राजपुरषा को प्राप्त है। पर कष्ट और अभावा स ऐसी विलक्षण मुक्ति पाकर भी सोवियत सघ के लेखको न पिछ्ने 30 40 वष म कोई मार्के की रचना हम नही दी है। क्रान्ति के पहले के रूस क अनेक लेखक विश्व कोटि के लेखक है। पुश्किन, टाल्सटाय दोस्तोवस्की के नाम विश्व-साहित्य मे अमर है पर क्रान्ति क बाद के सम्पन्न लखका म एक भी एसा नही है जो इन लेखका की प्रतिभा अथवा कीर्ति को छू सके।

यहा भी एसी ही एक घटना इस बात की पुष्टि कर चुकी है। लगभग दस वष हुए आल इडिया रेडियो ने एक साथ प्राय सभी भाषाओ के चोटी क लेखका को अपन यहा सम्मान के पद दकर अथ चिन्ता स मुक्त कर दिया था। और अब एमा लगता है कि इस अभाव स छुटकारा पात ही व मानो रचना स भी मुक्ति पा गए।

यही कारण है कि जो सच्चा लखक है वह अपने जीवन म धन तो क्या कभी कभी मही यश स भी वचित रह जाता है। हा, यदि उसका हृदय इतना सजग और विशाल हो कि वह आर्थिक सुविधा पाकर भी या सरकारी अथवा व्यवसाय क माध्यम से सामाजिक आश्रय पाकर भी अपन विद्रोही स्वर को कुठित न होन द तो यह सम्भव है कि वह अथाभाव स मुक्त होकर भी सच्चे साहित्य की रचना करता रहे। शेक्सपियर ने अपन नाटक एक कम्पनी क लिए लिखे थे और उनक द्वारा उन्होने अपनी

जीविका भी चलाई थी, पर उस कारण उन्होंने अपनी दृष्टि को धुंधला नहीं होने दिया। हमारे हिंदी साहित्य में भी ऐसे उदाहरण मौजूद हैं। सरस्वती की साधना और लक्ष्मी की पूजा दोनों एक साथ हो तो सकती हैं पर उसके लिए साहित्य के प्रति पूरी ईमानदारी बरतने की आवश्यकता है।

ऊंट पर सवार साढे छह यार

1

सवेरे सौदागर पुत्र की आखें खुली। सामने देखा अपार रेगिस्तान है। पहले दिन उसके पिता ने उसे डाटा था 'इतने बडे हो गए, पढ लिख चुके, अब कुछ काम धाम से लगो। क्या दिन भर लफगो के साथ गजपा खेलते हो और फोहश गीत गाते फिरते हो। हम तुम्हारी उम्र के थे तो ' वगैरह-वगैरह। सौदागर-पुत्र को पिता की बात ऐसी लगी कि वह चटपट मा के पास पहुचा और उसके पैर छूकर बोला 'मा अब तुम मुझे न रोकना। मैं दिसावर जा रहा हू, लौटूगा तो ऊट पर अशर्फिया लदवा कर लाऊगा, नही तो नही।' मा खूब रोई धोई, चलते समय सौदागर का भी चेहरा उदास हो गया था, पर बेटा धुन का पक्का था, उसी समय चल पडा और दिन भर चलते रहने के बाद जहा अधेरा हुआ वही एक पेड के नीचे भूखा-प्यासा आराम करने लेट गया। एक झपकी मे ही रात कट गई और जब आखें खुली तब वह नजारा कि होश गुम। जिधर देखो उधर ही रेत, कही हरियाली नही, आम को कही कोई टेव नही। न जाने कितना बडा है यह रेगिस्तान? न जाने इसके उस पार क्या है, कुछ है भी या नही? इसका पार कैसे मिलेगा मिलेगा भी या नहीं? इन सवालो ने एक साथ उसके मन म उठकर उसे बेचैन कर डाला, वह कह उठा 'आगे गहन अधेरा है मन रुक रुक जाता है एकाकी।' बीच बीच म सोचता कि मा-बाप से ऐसी दो-टूक बात न कर आया होता तो मजे स घर लौटकर कुछ और तरकीब निकाली जा सकती थी। पर अब तो दाव लग चुका था।

वह असमजस मे आखें फाडे रेगिस्तान पर टकटकी लगाए बैठा ही

था कि अचानक उसकी पीठ पर किसीने दिलासा का हाथ रखा। मुड़कर देखा तो गुरु-पुत्र।

'अरे! तुम! यहां!!' सौदागर-पुत्र ने आश्चर्य और आनन्द से धड़ककर कहा।

'हां, मैं! यहां!' गुरु-पुत्र बोला, 'मन तो करता है, तुम्हारे इतने लगाऊं कि तबियत दुरस्त हो जाए।'

'क्यों, क्यों?' सौदागर-पुत्र ने पूछा।

'अच्छा जी, अब भी क्यों? भला यह भी कोई बात हुई कि न किसीसे कुछ कहा-सुना, न किसीको कुछ बताया और चुपचाप निकल पड़े। भले-आदमी, घर वालों से झगड़ा हुआ था तो हुआ सही, मित्र-मण्डली को कहीं ऐसे चकमा दिया जाता है। वह तो खैर हो गई कि मैं खबर सुनते ही तुम्हें खोजने निकल पड़ा, नहीं तो तुम न जाने कहां समा जाते।'

गुरु-पुत्र अनाथ था और सौदागर पुत्र के बल पर ही कूदा करता था। उसके गुम हो जाने से अनाथ को अपनी चिन्ता हो गई थी। पर सौदागर पुत्र उसके इस पक्ष को न देख सका और अनाथ के शब्दों में अपने लिए सच्चा प्यार उमड़ता पाकर गदगद हो गया। बोला समा कहां जाता। देखते नहीं हो, सामने यह रेगिस्तान। समझ में नहीं आता अब क्या किया जाए।

अनाथ बोला 'क्या घर लौटने का मन हो रहा है?'

सौदागर-पुत्र ने पहले तो अपने सिर को बड़े जोर का झटका दिया मानो कहना चाहता हो हरगिज नहीं। पर फिर न जाने क्या सोचकर बोला 'तुम्हारी क्या राय है?'

'मेरी क्या राय होगी। अनाथ गुरु-पुत्र ने अनुगत के अन्दाज में कहा 'मैं तो तुम्हारे साथ हूं। लौटना चाहो तो लौट चलूंगा, और आगे जाना चाहोगे तो आगे चलूंगा।

सौदागर-पुत्र को उसके इस कथन से कुछ हिम्मत बंधी। उसे थोड़ा दुख भी हुआ कि वह उसे पहले ही साथ क्यों न ले आया, शहर में ही क्यों छोड़ आया। तभी उसे ध्यान आया कि अगर ऊंट पर अशर्फियां लद

कर लौटना हुआ तो थोडी-बहुत इसे भी देनी पड़ेगी। पर वह तो बाद की बात है, बाद मे देखी जाएगी। अभी तो यह रेगिस्तान पार करना है, और उसके लिए ऐसा एक साथी बडे काम का है। उसने अनाथ को गले से लगाकर कहा 'अगर यह बात है, तो फिर मुझे क्या डर है। मिलकर जसे भी बनेगा, यह रेगिस्तान पार कर लेंगे।'

गुरु-पुत्र को मानो मनचाही मुराद मिल गई। सौदागर-पुत्र का साथ रहेगा तो फिर भला उसे क्या कष्ट हो सकता है। और उसके बिना तो शहर भी उसके लिए रेगिस्तान है।

रेगिस्तान पार कर लेने की जल्दी म व आगा-पीछा सोचे बिना ही चल पडे।

2

घडी भर ही चले होंगे कि रेगिस्तान आ गया। वे रेत म पहला डग भरने ही वाले थे कि उन्हे ज्ञान हुआ—रेगिस्तान म रास्ता नहीं होता। अपने पिता से सौदागर-पुत्र ने बचपन मे ही जो अजीबोगरीब किस्से सुने थे उनसे वह तरह-तरह की कठिनाइयो का ज्ञान पा चुका था। ऊबड-खाबड रास्ता, कच्चा ककरीला रास्ता काटो भरा जगली रास्ता, बटमार-डाकू शेर-जगली जानवर, अनेक प्रकार के कष्टो की कथा वह सुन चुका था और उनसे जूझने का मन ही मन सकल्प भी कर चुका था, पर ऐसी विपत्ति की उसने पहले कभी कल्पना भी न की थी। चारो तरफ रेत ही रेत बिछा है, और कही किसी रास्ते का कोई निशान नही। जिधर जी चाहे चल पडो जहा चाहो अपना रास्ता बना लो। पर यह कोई नही कह सकता कि वह कही निकलेगा भी या नही। यह भी नही मालूम कि कभी कोई इस रास्ते गया भी है या नही। हो सकता है लाखो लोग गए हो हो सकता है कोई न गया हो। रेत मे निशान तो बनते नही। पर रखा तो रेत नीचे बैठ गई, पर उठाया तो हवा के एक झपटे म रेत ज्यो की त्यो मौजूद। उसने अपने मित्र अनाथ गुरु पुत्र से पूछा किधर चलें?'

गुरु पुत्र बोला तुमने मेरे मुह की बात छीन ली। मैं भी यही कहने वाला था—कौन-सा पथ है?

सौदागर-पुत्र बोला 'मेरा ख्याल है बिल्कुल सीधे चलें तो ठीक रहेगा। सीधा रास्ता छोटा होता है।'

'पर यह कैसे मालूम पड़े कि सीध किधर है? सिवाय अपनी नाक के यहा तो और कोई सीध ही नजर नही आती।'

इतना सुनना था कि पहले तो सौदागर-पुत्र और गुरु पुत्र एक-दूसरे का मुह ताकने लगे, भला यह आवाज कहा से आई, फिर मुड़कर जो देखा तो सामने भाट पुत्र। 'अरे भट्ट जी आप!' दोनो एक साथ चीत्कार कर उठे।

शहर मे सौदागर-पुत्र और भाट-पुत्र अक्सर मिलते जुलते रहते थे। पर उम्र मे कुछ बड़ा होने के कारण भाट-पुत्र उसका मित्र नही कहला सकता था। वह उसकी मित्र मण्डली को दूर से देखकर हसता रहता था। पर यहा अचानक उसे अपने इतने पास पाकर सौदागर पुत्र खिल उठा, बोला 'भट्ट जी, आप यहा क्या करने आए हैं?'

भाट पुत्र कहने लगा 'क्या बताए, इन बड़े लोगो के चोचले भी विकट होते हैं। राजकुमारी ने हठ ठानी है कि नखलिस्तान का पानी पिऊगी। सो बापू बोले, बेटा, यह कमण्डलु लो और जरा किसी नखलिस्तान से भर लाओ।

गुरु पुत्र को मजाक सूझा 'वाह भट्ट जी वाह। आप तो ऐसे कह रहे है जैसे नखलिस्तान पडोस के कुए का नाम हो कि गए और भर लाए। अरे महाराज, देखते नही चारो तरफ रेत ही रेत है न जाने नखलिस्तान कहा है। है भी या नही?'

सौदागर पुत्र ने कहा 'ऐसी बात थी भट्ट जी, तो दो चार चोबदार और एक ऊट साथ ले आते, सुभीता रहता।'

'तुम सुभीते की कहते हो।' भट्टजी ने अपनी व्यथा सुनाई। बापू बोले, इस राजकुमारी का तो दिमाग खराब है, एक जिद पूरी हो जाएगी तो कोई दूसरी ठान लेगी। इसलिए जितनी देर लगे उतना अच्छा। जब तक तुम न लौटोगे तब तक मैं उसे इसीमे अटकाए रहूगा।' इसीलिए मैं अकेला और पैदल ही चल पड़ा हू।'

तब सौदागर पुत्र और गुरु पुत्र ने अपनी कथा भी कह सुनाई। सब

हुआ कि तीनो साथ रहेंगे। और यह तय करके वे फिर रास्ते के सवाल पर आ गए। भाट-पुत्र बोला 'मुझे बाप की एक उक्ति याद आ गई 'किसने जाना वह रस्ता है, कापालिक हसता है।' सो भैया, रस्ते की फिक्र छोडो। और जिधर पैर उठे उधर ही चल पडो। मान लो कोई रस्ता मिल भी जाए, पर उस पर पैर न उठा तो क्या कर लोगे ?'

भाट पुत्र की इस परम ज्ञान की उक्ति ने दोनो को निरुत्तर कर दिया, और तीनो ने एक साथ रेगिस्तान में पैर डाला।

3

'अरे अरे ! तुम लोग कितने अनाडी हो। जूते तो उतार लिए होते। भला रेगिस्तान में कोई जूते पहनकर चलता है।'

उसी दिन के तीसरे पहर की बात है। सौदागर पुत्र, गुरु पुत्र और भाट पुत्र रेत में धसते निकलते किसी तरह थोडी-सी दूरी तय कर पाए थे। हर कदम पर उनके जूते रेत म धस जाते। उनमें गम रेत भर जाती और उनके तलुए उतने ही जलने लगते जितने नगे पाव होने पर जलते। उन्होने कई बार जूते उतारकर रेत झाडी और फिर जूते पहनकर आगे बढते रहे। पर यह किसीको न सूझा कि जूते बेकार है, उन्हे त्याग देने में ही सुभीता है। वे कभी एक दूसरे की उछल कूद पर हसते, कभी अपनी भूख-प्यास और थकावट पर झीकते, कभी इसका कभी उसका हाथ पकडते, कभी थककर बैठ जाते और कभी पीछे मुडकर देखने लग जाते। अपनी दुर्दशा मे वे इतने उलझे हुए थे कि वे उस अजनबी को लक्ष्य ही न कर पाए जो रेत में पसरा बैठा उन्हें अपनी ओर आता देख रहा था। इसीलिए जब उस अजनबी ने उनके हाल पर फब्ती कसते हुए ये वाक्य कहे तो वे तीनो अचकचा गए। उनकी नजरें एक साथ उस अजनबी पर पर पडी और उस अविचलित भाव स वहा बैठा देखकर वे बडे प्रभावित हुए।

पहले गुरु पुत्र ही आगे बढा। अजनबी के पास जाकर विगलित स्वर म बोला 'आप कौन हैं महाराज। आप तो बडे पहुचे हुए मालम पडते है।'

अजनबी हसा, 'हो न बुद्धू। मैं तुम्हे पहुचा हुआ लग रहा हू ? भले आदमी, अभी पहुचने की क्या चलाई अभी तो शुरुआत है।

'मेरा मतलब यह नही था ।' गुरु-पुत्र बोला, 'मुझे आप बडे ज्ञानी मालूम पडते हैं। आपने दूर से ही ताड लिया कि हम लोग अनाडी हैं ।'

'ज्ञान नही, अनुभव ।' अजनवी बोला, 'कुछ दूर तक मैं भी जूते पहन चला था । पर जल्दी ही समझ मे आ गया कि जूतो से उल्टे और अडचन हो रही है । क्या तुम्हें रास्ते मे मेरे जूते पडे नही मिले । उनके तले फटे हुए थे ।'

अब सौदागर पुत्र का बोल फूटा, 'नही महाराज, हम तो कोई जूते नही मिले । शायद आप किसी और रास्त से आए हो और हम किसी और रास्त से ।'

'हो सकता है ।' अजनबी ने स्वीकार किया, 'पर आप लोग हैं कौन ?'

'यह ठीक नही है महाराज ।' भाट पुत्र बोला, 'पहले आप अपना परिचय दीजिए ।

'मेरा परिचय ही क्या ।' अजनबी बोला, 'या समझ लीजिए कि मैं एक अन्वेषक हू । इस रेगिस्तान का अन्वेषण कर रहा हू ।'

'वाह, तब तो आप हमारे समानधर्मा हैं ।' सौदागर पुत्र ने कहा, हम भी इस रेगिस्तान का अन्वेषण कर रहे है ।

'सो कैसे ?' अजनबी ने प्रश्न किया ।

इसके उत्तर मे भाट पुत्र ने तीनो की कथा कह सुनाई। सुनकर अजनबी ने पहले तो एक लम्बी हू भरी फिर बडे जोर से सिर हिलाया ।

गुरु-पुत्र ने पूछा 'क्या बात है महाराज, आप चुप क्या रह गए ?'

'इसलिए कि आप लोगो का कथन सही नही है। अजनबी ने विचार-मग्न होते हुए कहा 'वास्तव में आप मेरे समानधर्मा नहीं है । आपके लिए रेगिस्तान केवल एक प्रसग है मेरे लिए वह लक्ष्य भी है और उद्देश्य भी ।

तीनो श्रोता नासमझ की तरह अजनबी का मुह ताकने लगे ।

उन्हे प्रश्नदृष्टि से अपनी ओर देखते पाकर अजनबी ने अपने कथन का खुलासा किया बात दरअसल यह है कि आपके उद्देश्य और लक्ष्य से इस रेगिस्तान का कोई सरोकार नही । यह सौदागर पुत्र इसे पार करके धन कमाना चाहता है । गुरु-पुत्र सौदागर-पुत्र के अनुकरण में ही

मगन है, रहा भाट-पुत्र सो उसका कोई इरादा नही है कि वह रेगिस्तान को पार करे। वह तो नखलिस्तान का आकांक्षी है।'

इस कथन पर सौदागर-पुत्र के आश्चय का ठिकाना न रहा। उसने विस्मय से पूछा 'तो क्या आप रेगिस्तान को पार नही जाना चाहते ?'

'नही।' अजनवी ने जवाब दिया रेगिस्तान के पार क्या है, इससे मुझे कोई मतलब नही। यह रेगिस्तान क्या है, मैं तो सिर्फ इसीका अन्वेषी हू।

'कुछ विस्तार से समझाइए महाराज !' गुरु पुत्र ने उकसाया।

'बात यह है।' अजनवी कहने लगा 'इस रेगिस्तान के पास ही मेरा गाव है। लडकपन से ही इसके बारे मे तरह-तरह की बातें सुनता आया हू। जब मैं छोटा था तब यह रेगिस्तान मेरे गाव से बहुत दूर पर था। पर ज्यो ज्यो मैं बडा होता गया त्यो त्यो यह रेगिस्तान भी फलता गया।'

'वाह, यह कैसे हो सकता है। भाट पुत्र ने टोका, 'कही रेगिस्तान भी फलता है ? मैंने तो आज तक ऐसी बात नही सुनी।

'तुमने अभी सुना ही क्या है ?' अजनबी बोला, और सुनते भी किससे, तुम्हारे बापू के जमाने मे तो ऐसी घटना हुई ही नहीं। पर मैं जानता हू कि जिस तरह नदी मे बाढ आती है उसी तरह रेगिस्तान में भी बाढ आती है। मेरे देखत देखते यह रेगिस्तान मीलो लम्बे खेतो को निगलता मर गाव तक आ लगा है।'

'तो फिर ?' सौदागर पुत्र ने पूछा।

'तो मैं इस रेगिस्तान को समझना चाहता हू इसकी प्रकृति का अध्ययन करके यह जानना चाहता हू कि यह क्यो बढता है ? कैसे बढता है ? किस तरफ बढता है। और इसका सही-सही पता लगाकर फिर इसकी रोकथाम करना चाहता हू, इसे गायब कर देना चाहता हू।

आपका मतलब है।' गुरु पुत्र बोला 'कि जहा रेगिस्तान है वहा फिर से हरियाली हो सकती है ?'

'हा, ठीक यही मतलब है। मैंने कहा न, जहा तुम खड़े हो वहा पहले हरियाली ही थी, मेरे देखत देखते ही यहा रेगिस्तान ने अपना रूप प्रकट

किया है। एक बार इसका रहस्य हाथ आ जाए तो फिर इसे मिटाते देर न लगेगी।'

'पर यह रहस्य हाथ आएगा कैसे ?' सौदागर-पुत्र ने प्रश्न किया।

'इसके निकट रहकर, इसके एक एक चप्पे का अध्ययन करके। अन्वेषण से ही इसका रहस्य खुलेगा। उसके लिए सभ्रमण जरूरी है। मैं चारो ओर घूम घूमकर इस रेगिस्तान को खूद डालना चाहता हू। इसीलिए मैं स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति का कायल हू।

'अगर ऐसी बात है तो आप हमारे साथ क्यो न चलें साथ रहगे तो मजा ही आएगा। और क्या पता एक दूसरे के काम भी आ सकें।' गुरु-पुत्र न प्रस्ताव किया।

'अच्छी बात है, यही सही।' अजनबी न तटस्थ भाव स स्वीकार किया।

चारो मित्र जब आगे बढे तब सूरज सामन के क्षितिज पर तमतमा रहा था जिसके कारण उन्ह आखो पर हथेलियो की छाया करनी पडती थी।

4

'वह देखो, वह भला आदमी न जाने क्या कर रहा है।' सौदागर-पुत्र के इस कथन पर सबने जो आखें उठाइ तो देखा कि थोडी दूर पर एक नवयुवक रेत मे आखें गडाए इधर-उधर घूम रहा है मानो कोई खोई हुई चीज खोज रहा हो।

हालाकि रेतीली जमीन पर तेज चलना सम्भव न था फिर भी कुतूहल के कारण उन्होने भरसक लम्बे डग भरे और लपककर उस नवयुवक के पास जा पहुचे।

उस नवयुवक का अन्दाज ही अनोखा था। घुघराले बाल अस्त-व्यस्त थे चेहरे पर हवाइया उड रही थी, पर दाहिने हाथ की अनामिका म हीरे की अगूठी थी और तन पर रेशमी कुर्ता था। गुरु पुत्र कुछ कहना ही चाहता था कि भाट-पुत्र ने उसे इशारे से टोक दिया और खुद उसको सम्बोधित करके बोला 'कहो भाई, आप यहा कैसे विचरण कर रहे हैं ?'

नवयुवक की नजरें अभी तक नीचे रेत मे ही गडी थी। इस वाक्य पर उसने सिर उठाया और बडे तटस्थ एव कोमल भाव से इन चारो

मित्रों को निहारता रहा। फिर धीमे स्वर में बोला 'आपको कोई आपत्ति है ?'

इतना सुनना था कि चारों मित्र खिलखिलाकर हंस पड़े। सौदागर-पुत्र ने हंसते हंसते ही कहा 'यह रेगिस्तान क्या कुछ कम आपत्ति है, जो हम अपनी आपत्ति और जोड़ें। हम तो आपसे संवेदना व्यक्त कर रहे थे क्योंकि आप अपनी वेशभूषा से विलासी प्रवृत्ति के व्यक्ति प्रतीत होते हैं, रेगिस्तान में आपकी उपस्थिति स्वाभाविक नहीं लगती।'

नवयुवक ने एक क्षण मानो उसकी बात का मर्म मन में उतारा और फिर कहा 'जी !'

'क्या हम आपकी कुछ मदद कर सकते हैं ?' गुरु पुत्र ने सहमत-सहमत प्रश्न किया।

'शायद नहीं,' नवयुवक ने उत्तर दिया, 'यह मेरा निजी मामला है।'

'आपका कुछ खो गया है ?' इस बार भाट-पुत्र ने सवाल किया।

'जी हां, नवयुवक ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

'क्या ?' सौदागर-पुत्र ने कहा।

'यह !' कहते हुए नवयुवक ने उनकी ओर अपना हाथ बढ़ा दिया। उसकी हथेली पर चूड़ी का एक टुकड़ा चमक रहा था। चूड़ी के उस टुकड़े को देखना था कि अजनबी अन्वेषक ने ऐसा जोरदार ठहाका लगाया कि सब उसकी ओर देखते रह गए। जब अजनबी कुछ प्रकृतिस्थ हुआ तब बोला 'मान गए आपको। मैं सोचता था कि मैं ही सबसे अधिक विचित्र हूं। अब देखता हूं कि दुनिया में एक से एक विचित्र प्राणी मौजूद हैं।'

नवयुवक के माथे पर एक तेवर पड़ गया। फिर भी वह संयत स्वर में ही बोला 'इसमें क्या विचित्रता है ?'

'जी नहीं, कुछ नहीं। माफ करें मुझसे भूल हो गई,' अजनबी ने व्यंग्य किया 'आप रेगिस्तान में चूड़ी का टुकड़ा खोज रहे हैं, यह तो अत्यन्त स्वाभाविक बात है। शायद रेगिस्तान होता ही इसीलिए है कि उसमें '

नवयुवक ने अजनबी की बात काटते हुए कहा 'पहले पूरी स्थिति समझिए तब अपना मन्तव्य प्रचारित कीजिए—बिना सुने-समझे किसी के संबंध में अपनी राय जाहिर करना आपको शोभा नहीं देता।'

'तो भैया जी, आप पूरी स्थिति समझा दीजिए न।' गुरु-पुत्र ने कहा, 'हमने तो पहले ही पूछा था, पर आप खुद ही रहस्य बढ़ाए जा रहे हैं।'

'देखिए बात यह है' नवयुवक ने कहना शुरू किया, 'आज सवेरे जब मैं किसी काम में जी बहलाने यों ही मैले कपड़े देख रहा था, तब एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में से एक रेशमी चूड़ी का छोटा सा टुकड़ा गिरा। आप मानें या न मानें, उस चूड़ी के टुकड़े में ऐसा इन्द्रजाल था कि मैं दंग रह गया। दूज कोर में उस टुकड़े पर मुझे अपनी प्रिया की अनगिनत लज्जित तस्वीरें दिखाई देने लगीं। मैंने वह टुकड़ा हथेली पर रखा और ध्यान-मग्न हो गया। तभी न जाने कहां से एक चील उड़ती हुई आई और मेरे हाथ पर झपट्टा मारकर उस टुकड़े को उड़ा ले गई। मैं भौंचक्का सा देखता रह गया और वह चील इधर रेगिस्तान की तरफ निकल आई। भला ऐसे अनमोल टुकड़े को मैं हाथ से कैसे जाने देता। मैं तुरन्त घर से निकल पड़ा और उसे खोजते-खोजते यहां आ गया। पर कहीं पता ही नहीं चलता। अब आप ही बताएं, इसमें कौन सी विचित्र बात है।'

'सब विचित्र है भैया, सब विचित्र है' अजनबी बोला 'मन्त्र विद्या माया गण्डा, डोरा—इन्द्रजाल के नाना रूप सुने थे पर चूड़ी के टुकड़े का इन्द्रजाल से संबंध यह पहली ही बार पता चला। और फिर वह चील भी कम विचित्र न रही होगी जो उसे झपट्टा मार कर ले गई।'

'अजी यह तो कुछ भी नहीं,' गुरु-पुत्र ने कहा, 'सबसे विचित्र बात तो यह है कि चूड़ी का टुकड़ा इनकी मुट्ठी में मौजूद है, फिर भी उसकी तलाश किए जा रहे हैं।'

'आपने अभी पूरी बात कहां सुनी,' नवयुवक ने झुंझलाते हुए कहा, 'यह टुकड़ा वह थोड़े ही है। यह तो दूसरी चूड़ी का टुकड़ा है जिसे मैं पहचान के लिए साथ लाया हूं।'

'वाह, यह भी एक ही रही,' गुरु-पुत्र ने कहा 'जिसमें इन्द्रजाल का असर है उसकी पहचान के लिए इसका क्या जरूरत? यह तो आपने सबसे विचित्र बात कही।'

'पर यह भी तो हो सकता है' नवयुवक बोला, 'कि अब तक उसका इन्द्रजाल खत्म हो चुका हो।'

'अगर ऐसा है' भाट पुत्र ने कहा, 'तो फिर उसके खोजने का प्रयोजन ही क्या?'

'और अगर खत्म न हुआ हो तो?' नवयुवक ने प्रश्न किया।

आप तो बड़ी चक्करदार बात करते हैं' सौदागर पुत्र ने कहा, किसी जगह टिकते ही नहीं—कभी कुछ कभी कुछ।'

नवयुवक कुछ कहने ही वाला था कि भाट पुत्र बोला अब मेरी समझ में आ गया। दोनों ही सम्भावनाएं हैं इसलिए पहचान भी जरूरी है और खोज भी—क्या है न यही बात।

नवयुवक के मुख पर पहली बार मुस्कराहट दिखाई दी, 'बिल्कुल ठीक, मैं हर स्थिति के लिए तैयार रहना चाहता हूं जिससे चूकना न पड़े।'

सो तो ठीक है। अजनबी बोला 'पर अगर वह टुकड़ा मिले ही नहीं तो? आप जानते हैं इतना बड़ा रेगिस्तान ।

'यह कैसे हो सकता है, नवयुवक ने बात काटी 'जब वह चील उसे इधर ही लेकर आई है तो वह यहीं कहीं होगा। हां, खोजने में कमी न होनी चाहिए।

'ठीक है ठीक है सौदागर पुत्र ने तपाक से स्वीकार किया, आपकी खोज हमारी खोज से छोटी नहीं है। आइए हम भी आपके साथ हैं।'

5

सौदागर पुत्र, गुरु पुत्र, भाट पुत्र अजनबी अन्वेषक और विलासी नवयुवक—पांचों के पांचों आगे बढ़े। वे यद्यपि मित्र हो गए थे, पर सबके मन अपनी अपनी धुन में रमे थे इसलिए आपस में बहुत कम बात करते थे। सौदागर पुत्र दो चार डग भरकर ही पीछे मुड़कर देखने लगता कि कितना रास्ता तय हो चुका है, गुरु पुत्र सौदागर पुत्र के चेहरे पर टकटकी लगाए उसके भावों को पढ़ने की कोशिश करता, भाट पुत्र कुछ मन्त्रोच्चार करता अपने होंठ चलाता रहता, अजनबी बीच-बीच में चाहे जहां बैठकर हाथों से रेत हटाने की कोशिश करने लगता और नवयुवक रह रहकर

आसमान की ओर ताकने लगता कि कहीं कोई उड़ती चील दिखाई पड़ जाए। उनकी मण्डली बड़ी विचित्र थी। वे एक साथ भी चल रहे थे, और अलग-अलग भी। सो, उनकी गति बड़ी धीमी थी।

लगभग एक घण्टे बाद पाचों ने बड़े विस्मय से देखा कि कोई आदमी बाईं ओर से झपटता चला आ रहा है और बराबर 'हाथी घोड़ा पालकी, जय कन्हैयालाल की !' रटता जा रहा है। पलक मारते ही वह इनके पास आ गया तो पाचों ने उसका रास्ता छेक लिया। वह आदमी विलासी नवयुवक से टकराने ही वाला था कि भाट-पुत्र ने उसे जेठ में भरकर कहा 'जरा सभल कर ! ऐसी भी क्या बात है ?'

वह आदमी थम तो गया, पर अभी भी उसका दम फूल रहा था। थोड़ी देर में जब उसकी सास में सास आई तो वह बोला, 'आपने मुझे क्यों टोका ? आप हैं कौन ?'

सौदागर-पुत्र ने आगे बढ़कर कहा, 'हम पांच हैं, और आप एक। आपको हमारी बात सुननी पड़ेगी।

अचानक उस आदमी का भाव बिल्कुल बदल गया। बोला, 'माफ करें, मुझसे भूल हो गई। मैंने आपको गिना न था। आप पाच हैं तो ठीक है। पचों की बात सिर-माथे। कहिए क्या चाहते हैं ?'

'रेगिस्तान के बारे में कुछ बताइए। भाट-पुत्र ने कहा।

रेगिस्तान !' वह आदमी अचरज से कह उठा, 'कैसा रेगिस्तान ! कहा है रेगिस्तान ?'

'हम लोग जहा खड़े हैं वह रेगिस्तान नहीं है तो क्या है ?' सौदागर-पुत्र ने पलटकर प्रश्न किया।

'और कुछ भी हो, रेगिस्तान नहीं है। वह आदमी बोला।

'क्यों ?' गुरु-पुत्र ने पूछा।

'इसलिए कि भूगोल की जो किताब अभी अभी सात समुद्र पार से आई है उसमे लिखा है कि हमारे यहा कोई रेगिस्तान नहीं है। इसलिए मैं इसे रेगिस्तान नहीं मान सकता। यह ठीक है कि यहा रेत ही रेत है, और चारों ओर सुनसान भी है पर रेगिस्तान की और भी तो विशेषताए होती हैं।

'कैसी विशेषताए ?' नवयुवक बोला।

'बहस करना चाहते हो!' वह आदमी थोडा तेज हुआ, 'तुमने रेगिस्तान की परिभाषा पढी है ?

'नही।' नवयुवक ने सहज भाव से उत्तर दिया।

तो पढो। मैं रात्रि-कक्षा चलाता हू, उसमे आना मै तुम्हे अच्छी तरह पढा दूगा।'

'यह सब तो बाद की बात है।' गुरु-पुत्र ने कहा, 'अभी तो आप यह बताइए कि आप जा कहा रहे हैं ?'

'मैं ? वह आदमी बोला, 'मैं गीदडो के कराल रोदन से बचना चाहता हू।

'गीदडो का रोदन ? हमने तो नही सुना। अन्वेषक बोला 'कहा है रोदन ?

'मेरे कान मे।' उस आदमी ने जवाब दिया।

पाचो जन बुद्धुओ की तरह उसे घूरने लगे।

'मैं सच कहता हू।' वह आदमी कुछ हतप्रभ होता हुआ बोला, 'मै जिस गाव मे रहता हू वहा रोज शाम को गीदडो का रोदन सुनाई पडता है। इसलिए शाम के पहले ही मैं गाव से भागकर यहा आ जाता हू।

'तो फिर ऐसे गाव मे रहने से फायदा ? भाट-पुत्र ने कहा 'इससे तो अच्छा है, तुम हमारे साथ चलो।' अगर हमने इस रेगिस्तान को पार कर लिया तो हम एक नया गाव बसाएगे, वहा गीदड नही होगे।

बात तो ठीक है। वह आदमी बोला 'पर मैं ठहरा गाव का अध्यापक। मेरी रात्रि-पाठशाला कैसे चलेगी ?'

अगर गाव वालो को जरूरत होगी तो वे कोई प्रबन्ध कर ही लेंगे। और अगर प्रबन्ध नही होगा तो समझो उन्हे जरूरत ही नही है तुम बेकार सिर खपा रहे हो। अन्वेषक ने कहा।

अध्यापक को यह तर्क सही लगा और वह भी साथ हो गया।

6

जब सूरज डूब गया और रात घिर आई तब नवयुवक बोला बस अब यही रुक जाए आराम कर लिया जाए।

वैसे सभी लोग थक चुके थे और अंधेरे में चलते रहने की किसी की भी इच्छा न थी, पर कहने का साहस नहीं हो रहा था। नवयुवक की बात पर सब एक साथ बोल पड़े 'बिल्कुल ठीक।'

अंधेरी रात थी, पर आसमान तारों से भरा था। छहों के छहों थक कर धूर रेत पर पसरे हुए थे, पर भूख-प्यास के मारे नींद किसीको नहीं आ रही थी। काफी देर तक इधर-उधर करवटें बदलते रहने के बाद गुरु-पुत्र ने सौदागर पुत्र से कहा 'तुम्हारा क्या ख्याल है? कल हम पार पहुंच जाएंगे।'

'क्या मालूम?' सौदागर-पुत्र बोला।

गुरु पुत्र ने कहा, 'न पहुंच पाए तब तो बड़ी मुश्किल होगी। मेरा तो भूख के मारे बुरा हाल हो रहा है।'

'बुरा हाल किसका नहीं है?' अन्वेषक ने कहा, 'पर हिम्मत छोड़ने से कैसे काम चलेगा!'

'वह देखो आसमान में चांद निकला है।' अध्यापक बोल पड़ा, 'क्या मालूम, चांद में भी रेगिस्तान है या नहीं?'

अन्वेषक ने बात बदली, चांद का मुंह टेढ़ा क्यों है?'

भाट-पुत्र न जाने किस तरंग में था। बोला 'घी का लड्डू टेढ़ा भी भला।'

नवयुवक ने कहा 'मुझे तो यह सारी खोज टेढ़ी खीर लगती है। कहीं ऐसा न हो कि हमारी किस्मत ही टेढ़ी हो जाए।'

गरज यह कि शब्दों से शब्दों की निरर्थक डोर जोड़ते जोड़ते अपनी अपनी तकलीफ को छिपाने की बेकार चेष्टा करते करते वे जैसे तैसे हारकर निद्रा देवी की गोद में मग्न हो गए।

सवेरे सबसे पहले गुरु पुत्र की आंख खुली। सूरज की लाल किरणें उसकी पलकों पर थिरक रही थीं। उसने जम्हाई लेकर उठने की कोशिश की तो उसे पता चला कि उसकी देह ही नहीं है। उसे हाथ पैर पीठ पेट सारे अंग अलग-अलग जान पड़ते थे उन्हें एक साथ समेटना जैसे वह भूल ही गया था।

तभी सौदागर पुत्र जागा। गुरु पुत्र ने उसे उठते देखकर कहा, 'मैं तो आगे नहीं चल पाऊंगा, क्या करूं?'

'चलना तो है ही', सौदागर पुत्र बोला, 'यहां पड़े-पड़े भी तो निस्तार नहीं, और लौटना भी सम्भव नहीं लगता।'

भाट पुत्र पड़ा पड़ा उनकी बातें सुन रहा था, बोला 'मैंने बापू से तभी कहा था, एक ऊंट साथ कर दो, पर वे माने ही नहीं।'

नवयुवक का गला प्यास के मारे सूख गया था। बड़ी मुश्किल से बोला, 'उन्होंने कमण्डलु तो दिया था इसीको भर लाए होते। कुछ तो प्यास बुझती।'

भाट-पुत्र कुछ कहने ही वाला था कि सौदागर-पुत्र खुशी से उछल पड़ा 'अरे ऊंट! वह देखो ऊंट!'

सब हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए। सामने सचमुच एक ऊंट मजे से जुगाली करता चला जा रहा था।

सौदागर पुत्र बोला 'चलो, झपटकर इसे पकड़ लें। इसपर चढ़कर चलेंगे तो रास्ता जल्दी कट जाएगा।'

ये बातें हो ही रही थीं कि ऊंट खुद-ब-खुद उनके पास आकर खड़ा हो गया, और अपनी दुम हिलाने लगा।

छहों दोस्त इस विचित्र संयोग से मगन मन ऊंट पर चढ़ गए। नवयुवक ने पहले कुछ आनाकानी की क्योंकि ऊंट की पीठ पर से बूढ़ी का टुकड़ा शायद नजर न आए पर पीछे छूट जाने के डर से आखिर वह भी सवार हो गया।

कुछ देर के लिए छहों यार अपनी भूख-प्यास और थकान भी भूल गए। ऊंट की पीठ पर बैठकर उन्हें दूर पर रेगिस्तान का सिरा भी नजर आने लगा। अध्यापक को रात गीदड़ों का रोना सुनाई नहीं दिया था, इसलिए वह भी खुश था। अकेला अन्वेषक ही कुछ गुमसुम था, मानो भीतर-ही भीतर वह अपने आपसे जूझ रहा हो।

7

दोपहर तक छह यारों की यह मण्डली ऊंट की पीठ पर सवार काफी दूर निकल गई। दो दिन से किसीने भी कुछ खाया पिया न था, इसलिए

मन ही-मन सब बिलबिला रहे थे, पर ऊंट पर सवार होने के कारण उन्हें लगता था कि जल्दी ही नखलिस्तान पहुंच जाएंगे। इसी आशा के सहारे वे अपने कष्ट भूलने की कोशिश कर रहे थे।

तभी अन्वेषक बोला, 'यह ठीक नहीं, ऊंट पर से उतरना चाहिए।'

'क्यों-क्या ?' गुरु-पुत्र बोल उठा, उसे ऊंट की सवारी बड़ी सुखद लग रही थी।

'मैंने पहले ही कहा था, मुझ में और आप में मूलगत भेद है। आप तो रेगिस्तान के पार जाना चाहते हैं, इसलिए आपके लिए यह सवारी काम की है। पर मैं तो यहीं रहकर रेगिस्तान की पड़ताल करना चाहता हूं। ऊंट की पीठ से इसकी पड़ताल नहीं हो सकती। मुझे तो आप उतार ही दीजिए।'

नवयुवक ने अन्वेषक का समर्थन किया, 'इतनी ऊंचाई से चूड़ी का टुकड़ा भी नहीं खोजा जा सकता।'

चार लोग पसोपेश में पड़ गए। साथ छोड़ने का किसी का मन न था पर यह समस्या भी विकट थी।

अभी वे सोच विचार में ही लगे थे कि अन्वेषक ऊंट की पीठ से खिसककर धम्म से धूल में आ गिरा।

सब ऊंट की पीठ से नीचे कूदकर अन्वेषक को संभालने लगे। उसकी आंखें मुंद गई थीं और होंठ सूखे थे। भूख-प्यास के मारे वह बेदम हो गया था।

सौदागर पुत्र ने कहा, 'जैसे भी हो, कुछ पानी का इन्तजाम करना चाहिए।'

सबने मौन सहमति प्रकट की। पर रेगिस्तान में पानी का क्या उपाय था।

गुरु-पुत्र ने कहा, 'सिर्फ एक ही रास्ता है। ऊंट के पेट में पानी हो सकता है।'

पांचों यार नासमझ की तरह उसकी ओर देखने लगे।

'अगर अन्वेषक को बचाना है तो हमें इस ऊंट के पेट से पानी

निकालना पडेगा। हम लोग तो प्यासे मरें और यह मजे मे पार चला जाएगा। यह कहाँ का न्याय है।'

'ठीक है ठीक है।' सबने एक स्वर म कहा।

पाचो तेजी स ऊट की तरफ बढे।

ऊट चुपचाप खडा इनकी ओर ताक रहा था। अचानक उन्हे आक्रामक मुद्रा म अपनी ओर आते देखकर वह डर गया। अपनी जान पर आफत आती जानकर वह घबराकर भाग खडा हुआ। पाचो यारो ने उसका पीछा करने की कोशिश की, पर रेगिस्तान म ऊट से वे होड न ले सके।

8

भागते भागते ऊट एक नखलिस्तान म जा पहुचा। उसने मुडकर देखा तो उसके सवारो का दूर-दूर तक कोई पता न था। वह सुरक्षित अनुभव कर एक खजूर की छाया म बैठ गया और जुगाली करने लगा।

तभी उसके कानो म न जाने कहा स आवाज आई 'हे।'

ऊट के कान खडे हो गए। उसने सकपकाकर इधर-उधर देखा, कहीं कोई न था। वह दग होने ही वाला था कि फिर उसके कानो म आवाज आई ...। 'इधर-उधर क्या देख रहे हो? मैं तो यहा हू।'

'कहा?' किसी विचित्र शक्ति स ऊट मानवीय भाषा म बोलने लग गया।

'तुम्हारी पीठ पर। मत समझो कि तुम अपने सवारो से पीछा छुडा चुके हो। वे छह पीछे रह गए तो क्या हुआ। मैं अब भी तुम पर सवार हू और तुम कहीं भी क्या न जाओ, मैं हरदम तुम पर सवार रहूगा। मुझसे तुम कभी नहीं बच पाओगे।'

'पर तुम हो कौन?'

'मैं उनका सूक्ष्म रूप आधा हू। या समझ लो कि वे छह नहीं, साढे छह यार थे। वे भले ही उतर गए हो मैं तुम्हारी पीठ पर हरदम चढा रहूगा, और तुम्हारे कानो म चीख मारता रहूगा।'

'तुम्हारा नाम?'

'मुझे इतिहास कहते है।'

गोष्ठी असमाचार

(छपते छपते प्राप्त होने के कारण इस टिप्पणी मे कुछ प्रूफ की भूलें रह गई है। पाठका से निवेदन है कि वे कृपया सुधार कर न पढे।

—सम्पादक)

पिछले सप्ताह नई दिल्ली मे एक अत्यन्त विकारोत्तेजक अरिसवाद का चायोजन किया गया। विपय था 'आधुनिक साहित्य मे ठनाव की स्यिति।' परिसवाद की अघ्यक्षता के लिए विभ्रम विश्वविद्यालय के कुलपति डा० शिवदगर्लासिह 'सुमन' को आमन्त्रित किया गया था। दिल्ली और दिल्ली से बाहर के अनेक लेखको ने परिसवाद मे फाग लिया। हिन्दी-हवन का कक्ष स्रोताओ से ठसाठस भरा हुआ था।

विपय प्रवतन 'आलोचना' के सम्पादक डा० नामवर सिंह न किया। अपने सक्षिप्त किन्तु मारगर्भित भाषण मे उन्होंने कहा कि आज का कलाकार तनाव म रहता सहता है। वह तनाव मे ही भरता है और तनाव म ही पीता है। अतएव उसकी रचना मे तलाब की उपस्थिति अनिवाय हो जाती है। यही नही, आधुनिकता की पहचान ही यह है कि वह तलाब मे जनमती है। यदि कोई लेखक इस तलाब से दूर रहे तो वह आधुनिक सवेदना से दूर हो जाता है। इस प्रसग मे टीलाघर जगूडी और भूमिल की कुछ ताजी कविताओ का उल्लेख करत हुए आपने सताया कि छायावाद की तुलना मे आज की कविता अपने परिवेश के प्रति अधिक लगान महसूल करती है।

श्री लघुवीर सहाय ने कवि शम की व्याख्या करत हुए कहा कि कवि अपनी एक पूर्ति बहाता है और एक दूसरी भुनाता है। रम निरन्तर जोड-तोड मे ही उसका शम सायक बनता है। मेरी कविताए अगर आपन नही गढी है तो मैं उनके बारे मे क्या कह सकता हू। इतना तो स्पष्ट है

श्री श्याम परमार ने बताया कि बनाव का सही प्रारम्भ अकविता से होता है। मेरी पुस्तक 'अकविता और गला स दम' प्रकाशित हो चुकी है। दलदेव वशी उसकी समीक्षा भी लिख चुके हैं। अत मुझे नया कुछ नही कहना है। सौचित्र मोचन ने तलाब को नए कूपा में दिखाया है।

डा० भ्रमाकर माचवे ने बताया कि तलाव सिर्फ हिन्दी म ही हो, एसी बात नहीं। अभी मैं केरल गया था, वहा भी मुझे बहुत से तलाब मिले। जब वर्धा में मैंने बापू के दशन किए थे तभी मैंने विशाल भारत मे तलाब की दो कविताए प्रकाशित की थी। हिन्दी मातभाषा नही है। इसीलिए मुझे कोई पुरस्कार नही मिला। इधर मैं अंग्रेजी मे ज्यादा लिखता हू। वैसे तनाव मनाव तो चलता ही रहता है, पर 'जैनेन्द्र के विचार' की भूमिका मे मैंने उसकी ओर जो सकेत किया था वह लाद रखन की बात है। जैनेन्द्र जी ने आज तक कोई रायल्टी नही दी। रायल्टी और लायल्टी मे गडबड हो तो तलाव पैदा होता है।

सवश्री मुन्नाराक्षस, महीनसिंह, दगाप्रसाद विमल, अजित घुमार, लस्सी नारायणलाल प्रयास शुक्ल, हमेश गौड, असल राजपूत और राजेन्द्र व्ययस्थी ने भी अपने विचार रखन किए।

अन्त मे परिसवाद का समापन करते हुए अध्यक्ष पद से डा० सुमन ने कहा कि मैंने अभी अपना शोध ग्रन्थ नही छपवाया है। नही तो आप दखत कि मन उसमे तनाव का विस्तृत विवेचन किया है। उसम वेदा से लेकर आज तक की कविता का सर्वेक्षण किया गया है। यह बात और है कि वेदा के तलाव स आज का बनाव भिन्न है, पर भारतीय सस्कृति की एक अपनी निजी परम्परा रही है। साहित्य मूलत एक होता है। उस टुकडो में नही बाटना चाहिए। आधुनिकता के तलाव में भी परम्परा का ही रम है। भयहिन्द।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के होली विशेषाक (1969) के लिए लिखा लख।

●●●

मुद्रक आयरिस प्रिंटिंग, दिल्ली 11180

भारत भूषण अग्रवाल

(1919-1975)

जन्म तुलसी जयन्ती, 1919 मथुरा।

कार्य क्षेत्र समाज सेवक (कलकत्ता) के सपादक(1941 42)। कलकत्ता तथा हाथरस के व्यवसायी-औद्योगिक सस्थानो में उच्च पदस्थ कर्मचारी (1942 47)। कुछ दिन प्रतीक (इलाहाबाद) में रहने के बाद आकाशवाणी मे कार्यक्रम अधिकारी (1948-59)। साहित्य अकादमी, नई दिल्ली म सहायक सचिव (1960 1974)। उच्चतर अध्ययन सस्थान, शिमला मे फैलो (1975)।

रचनाए

काव्य सग्रह छवि के बधन (1941), जागते रहो (1942), तार सप्तक (1943), मुक्ति मार्ग (1947), ओ अप्रस्तुत मन ! (1958), कागज के फूल (1964), अनुपस्थित लोग (1965), एक उठा हुआ हाथ (1970), उतना वह सूरज है (1977)।

नाटक पलायन (1942), सेतुबधन ध्वनि रूपक (1955), और खाई बढ़ती गई ध्वनि नाटक (1956), अग्निलीक काव्य रूपक (1976)।

निबध तथा आलोचना प्रसगवश (1970), हिंदी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव शोध प्रबध (1971), कवि की दृष्टि (1978), लीक-अलीक (ललित निबध)।

उपन्यास लौटती लहरा की बांसुरी (1964), अन्य किंतने फूल खिलाय आत्मोपयोगी काव्य सकलन (1955) तथा अनेक नाटको, कविताओं के अनुवाद।